शोधादर्श

१८

प्रकाशक :

तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उत्तर प्रदेश, लखनऊ

नवम्बर १९९२

संस्थापक एवं आद्य सम्पादक : डा० ज्योति प्रसाद जैन
प्रबन्ध सम्पादक एवं प्रकाशक : श्री अजित प्रसाद जैन,
मन्त्री, तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ० प्र०,
पारस सदन, आर्यनगर, लखनऊ–२२६ ००४
सम्पादक मंडल : डा० शशि कान्त, श्री रमा कान्त जैन

★ विषय-क्रम ★

१.	गुरुगुण-कीर्तन–गुणनन्दि	—श्री रमा कान्त जैन	१
२.	सम्पादकीय : षष्टम पट्टाचार्य	—श्री अजित प्रसाद जैन	२
३.	श्रमण संस्कृति की प्रचीनता	—डा० ज्योति प्रसाद जैन	६
४.	एक ऐतिहासिक दस्तावेज	—श्री अजित प्रसाद जैन	९
५.	जैन एवं बौद्ध दर्शनों में आत्मवाद	—डा० विजय कुमार	१६
६.	जैन पुराणों में लोक सम्बन्धी अवधारणा	—डा०(श्रीमती) सुनीता कुमारी	२४
७.	गुजरात में आचार्य कुन्दकुन्द की प्राचीन पाण्डुलिपियां	—डा०ऋषभ चन्द्र जैन "फौजदार"	३१
८.	ग्वालियर अंचल की जैन पुरा-सम्पदा	—श्री अभय प्रकाश जैन	३५
९.	जैन-आचार-पद्धति में अचौर्य एवं अपरिग्रह अणुव्रत की अवधारणा	—डा० राजदेव दूबे	३९
१०.	भगवान महावीर और उनका जीवन दर्शन	—डा० शशि कान्त	४३
११.	स्वास्थ्य व आध्यात्मिकता का पारस्परिक सम्बन्ध	—श्रीमती आशा सहारिया	४६
१२.	जैन साहित्य के महाविद्वान हरमन जैकोबी	–डा० रानी मजूमदार	४९
१३.	मगध-राज कुणिक अजातशत्रु	—श्रीमती सुधा जिन्दल	५३
१४.	अंग्रेजी "जैन गजट" से		
	A Mahomedan estimate of Jaina layman		६५
	Jaina Vairagya Shataka		६६
१५.	समणसुत्त (हिन्दी पद्यानुवाद)	—श्री प्रकाश चन्द्र जैन 'दास'	६९
१६.	शोध सारांश : प्रमुख जैनाचार्यों की योग दर्शन को देन	—डा० (कु०) अरुणा आनन्द	७३

(शेष कवर पृष्ठ ३ पर)

लेखक के विचारों से सम्पादक मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। लेखों में दिये गये तथ्यों और सन्दर्भों की प्रामाणिकता के संबंध में स्वयं लेखक उत्तरदायी हैं।

णाणंणरस्स सारं-सच्चं लोयम्मि सारभूयं

शोधादर्श-१८

वीर निर्वाण संवत् २५१९ नवम्बर १९९२ ई०

गुरुगुण-कीर्तन

गुणनन्दि

श्री पूज्यपादममलं गुणनन्दिदेवं सोमामरव्रतिपपूजितपादयुग्मम् ।
सिद्धं समुन्नतपदं वृषभंजिनेन्द्रं सच्छब्दलक्षणमहं विनमामिवीरम् ॥

(सोमदेव : शब्दार्णव-चन्द्रिका, मंगलाचरण)

सोमदेव व्रती द्वारा जिनके चरण युगल की पूजा की गई है उन निष्पाप श्री पूज्यपाद, गुणनन्दिदेव, समुन्नत पद प्राप्त सिद्ध वृषभ जिनेन्द्र (ऋषभदेव) और वीर (महावीर स्वामी) को मैं अच्छे शब्दों का लक्षण विषयक यह ग्रन्थ समर्पित करता हूं ।

शब्दब्रह्मा स जीयाद्गुणनिधिगुणनन्दिव्रतीशसुसौख्यः ।

(चुरादि धातुपाठ का अन्तिम पद्य)

जो शब्दों के सम्बन्ध में ब्रह्मा के समान हैं, गुणों का भण्डार हैं, सुख प्रदान करने वाले हैं – ऐसे उन गुणनन्दि व्रती की जय हो !

तच्छिष्यो गुणनन्दिपण्डितयतिचारित्रचक्रेश्वरः,
तर्क्कव्याकरणादिशास्त्रनिपुणः साहित्यविद्यापतिः ।
मिथ्यावादिमदान्ध-सिन्धुर-घटा-सङ्घट्ट-कण्ठीरवो,
भव्याम्भोजदिवाकरो विजयतां कन्दर्पदर्पापहः ॥

(श्रवणबेल्गोल की चन्द्रगिरि पर शक संवत् १०९९ (११७७ ई०) का शिलालेख सं० ४२, श्लोक ७)

उनके बलाकपिच्छ मुनि के शिष्य गुणनन्दि पण्डित जो यति और चारित्र चक्रवर्ती हैं, तर्क-व्याकरण आदि शास्त्रों में निपुण हैं, साहित्यविद्यापति

(शेष पृष्ठ ५ पर)

सम्पादकीय

षष्टम पट्टाचार्य

चारित्र चक्रवर्ती पू० आचार्य शान्तिसागर महाराज की परम्परा के संप्रति दो पंचम पट्टाचार्यों में से एक, पू० आ० श्रेयांस सागर म० का बांसवाड़ा में दि० १९-२-९२ की रात्रि में ७.० बजे आकस्मिक समाधिमरण हो जाने पर दि० ८ मार्च १९९२ को खान्दू कालोनी में चतुर्विध संघ के सानिध्य में परम्परा के वरिष्ठ मुनि पू० अभिनन्दन सागर म० को षष्टम पट्टाचार्य के रूप में प्रतिष्ठापित कर दिया गया।

चतुर्थ पट्टाचार्य पू० अजित सागर म० का दि० ९-५-९० को सांवला ग्राम (जिला उदयपुर) में निधन हो जाने पर पंचम पट्टाचार्य के पद को लेकर जो अप्रिय विवाद खड़ा हुआ था उससे न तो दिगम्बर साधुसंस्था की गरिमा में ही कोई अभिवृद्धि हुई थी और न ही परम्परा से जुड़े भक्त श्रावकों एवं त्यागियों ने अपने विवेक से काम ले कर विवाद को शान्तिपूर्ण ढंग से सहमति के आधार पर सुलझाने का पूरा प्रयास ही किया लगता था। परिणाम स्वरूप परम्परा के साधु एवं श्रावक दो खेमों में बट गए तथा पू० श्रेयांस सागर म० को लोहारिया में दि० १०-६-९० को तथा पू० वर्द्धमान सागर म० को पारसोला में दिनांक २४-६-९० को परम्परा के पंचम पट्टाचार्य के रूप में प्रतिष्ठापित कर दिया गया।

उस समय हमने अपना विनम्र विचार अभिव्यक्त किया था कि इन दोनों पंचम पट्टाचार्यों में जो भी आचार्य भगवन्त पहिले काल कवलित हो जाएँ वें अपना उत्तराधिकारी घोषित न करें ताकि भविष्य में इस परम्परा में एक समय में एक ही पट्टाचार्य सम्पूर्ण संघ के अनुशास्ता रहें। (देखें शोधादर्श पत्रिका का अंक १२ दिनांक अक्टूबर १९९०)।

पू० आचार्य श्रेयांस सागर म० बिना कोई उत्तराधिकारी नामित किए या इंगित किए स्वर्ग सिधार गए। श्री भारतवर्षीय दि० जैन (धर्म संरक्षिणी) महासभा के अध्यक्ष श्री निर्मल कुमार जी सेठी ने पंचम पट्टाचार्य श्रेयांस सागर महाराज के आज्ञानुवर्ती विभिन्न मुनि संघों (पू० अभिनन्दन सागर म०, हित सागर म० तथा रयणसागर म० के संघों) में जा कर उन वीतरागी

महामुनियों को मनाने का भरसक प्रयास किया कि वें अब किसी को नया पट्टाचर्य न बनावें तथा आचार्य वर्द्धमान सागर म० को ही अपना पट्टाचार्य स्वीकार कर लें ताकि पू० आचार्य शान्तिसागर म० की परम्परा में एक समय में एक ही पट्टाचार्य सकल संघ को अनुशासित करते रहें। किन्तु श्री सेठी का सद्प्रयास सफल नहीं हुआ तथा आ० श्रेयांस सागर म० के निधन से रिक्त हुए पट्टाचार्य पद पर प्रतिष्ठापित होने की आकांक्षा रखने वाले महामुनियों को सेठी जी का सुझाव रास नहीं आया। अन्ततः दिनांक ८ मार्च १९९२ को उपाध्याय अभिनन्दन सागर म० आ० श्रेयांस सागर म० की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए षष्टम पट्टाचार्य के पद पर प्रतिष्ठापित हो गए।

श्री सेठी जी के प्रयास की विफलता का एक मुख्य कारण यह भी रहा होगा कि श्री अजित सागर म० के निधन पर पंचम पट्टाचार्य की प्रतिष्ठापना के संबंध में जो अप्रिय विवाद खड़ा हुआ था, उसमें सेठी जी की महत्वपूर्ण भूमिका रही थी तथा संघ के बहुसंख्यक मुनियों की सहमति से दि० १०-६-९० को श्री श्रेयांस सागर म० के पंचम पट्टाचार्य के रूप में प्रतिष्ठापित कर दिए जाने पर भी उन्हीं की अगुवाई में दिनांक २४-६-९० को श्री वर्द्धमान सागर म० को भी पंचम पट्टाचार्य बना दिया गया था तथा इस प्रकार आ० शान्तिसागर महाराज की परम्परा में दो आचार्य अपने को पंचम पट्टाचार्य कहलाने लगे थे। आ० वर्द्धमान सागर म० को पंचम पट्टाचार्य बनाने के प्रमुख पक्षधर होने के कारण उनके प्रयास की सदाशयता में संशय किया गया हो तो विशेष आश्चर्य नहीं।

सम्यग्ज्ञान पत्रिका के अगस्त १९९२ के अंक में प्रकाशित लेख "षष्टम पट्टाचार्य के संबंध में १६-४-९२ के जैन गजट में उठाए गए प्रश्नों के उत्तर" के परिशीलन से विदित होगा कि पू० आ० श्रेयांस सागर महाराज के संघस्थ साधुओं तथा भक्त श्रावकों में अपनी परम्परा पृथक रूप से आगे चलाते रहने का आग्रह इतना प्रबल था कि इसका काफी प्रयास किया गया कि यदि ब्र० सूरजमल बाबा जी दीक्षा ले लें तो उन सद्यः दीक्षित मुनिराज को ही षष्टम पट्टाचार्य पद पर प्रतिष्ठापित कर दिया जाय। संघ की ओर से बाबा जी पर इसके लिए काफी दबाव डाला गया तथा उन्हें सोचने का भी काफी

मौका दिया गया किन्तु बाबा जी ने अन्ततः दीक्षा लेने में असमर्थता व्यक्त कर दी। तब परम्परा के १७ दिगम्बर मुनियों की सहमति प्राप्त कर चतुर्विध संघ की उपस्थिति में उपाध्याय अभिनन्दन सागर म० को षष्टम पट्टाचार्य के रूप में प्रतिष्ठापित कर दिया गया।

षष्टम पट्टाचार्य का यह पद पू० अभिनन्दन सागर म० को सर्वसम्मति से नहीं प्राप्त हुआ तथा संघ के कम से कम **तीन वरिष्ट मुनिराजों ने उन्हें अपना आचार्य नहीं मानने की बात कही है।** इस प्रकार आ० श्रेयांस सागर म० के संघस्थ मुनियों में भी फांट पड़ गई है।

अब हास्य पूर्ण स्थिति यह है कि चारित्र चक्रवर्ती आ० शान्तिसागर म० की परम्परा के साधुओं में एक पंचम पट्टाचार्य (श्री वर्द्धमान सागर म०) तथा एक षष्टम पट्टाचार्य (श्री अभिनन्दन सागर म०) एक ही समय में इस धरा पर विचरण कर रहे हैं तथा आगे चलकर इन पाटों पर एक ही समय में और भी आचार्य प्रतिष्ठापित हो जायं तो इस संभावना को भी नकारा नहीं जा सकता।

बड़े मुनि संघों के विभक्त होने पर अनुशासन की दृष्टि से एक से अधिक मुनिराजों को आचार्य पद पर प्रतिष्ठापित किए जाने में हमें कोई दोष नहीं मालूम पड़ता विशेषकर जबकि दिगम्बर जैन साधु संस्था में इस समय कई स्वयंभू आचार्य हैं तथा एक ही समय में गुरु शिष्य आचार्य पद से अलंकृत हो एक साथ विचरण कर रहे हैं। किन्तु किसी परम्परागत पाट पर तो एक समय में एक ही आचार्य होते आए हैं। एक ही समय में पंचम तथा षष्टम पट्टाचार्य रहें तो स्थिति हास्य पूर्ण ही कही जाएगी जो मान कषाय जयी महामुनियों की गरिमा में कोई अभिवृद्धि नहीं करती।

पू० श्री अभिनन्दन सागर म० ने षष्टम पट्टाचार्य के रूप में प्रतिष्ठापित होने पर अपना जो **प्रथम पावन संदेश** प्रसारित किया है (सम्यग्ज्ञान पत्रिका के अंक अगस्त १९९२ में प्रकाशित) उसके निम्नलिखित अंश का अवलोकन करें—

"···· वर्तमान में कुछ आगम के अनाभ्यासी श्रेष्ठियों ने इस निर्दोष परम्परा में जैन गजट के माध्यम से फूट डालने का जो दुष्प्रयास किया है वह उनके स्वयं के लिए एवं समाज के लिए घातक है और देव शास्त्र गुरु के लिए अपमान है, नेतृत्व में दूषण है।

मेरा भारतवर्ष के समस्त जैन समाज के लिए यही संदेश है कि दिगम्बर साधु संस्था में फूट डालने वाले ऐसे लोगों की किसी बात पर आप विश्वास न करें..... ।"

स्पष्ट ही यह **पावन संदेश** श्री सेठी जी व उनके सहयोगियों को लक्षकर जारी किया गया है । श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन (धर्म संरक्षिणी) महासभा के अध्यक्ष परम मुनिभक्त, परम्परागत आर्ष मार्ग की शुद्धता के प्रबल पक्षधर श्री निर्मल कुमार जी सेठी को मुनि संघों की दीर्घकालीन सेवा का कैसा विस्मयकारी पुरस्कार ? किसी दिगम्बराचार्य का इस प्रकार का राग द्वेष रंजित फतवा भी हमें पहिली बार ही देखने में आया ।

—अजित प्रसाद जैन

(पृष्ठ १ का शेष)

हैं, जो मिथ्यावादियों के घमण्ड को चूर करने के लिये मदान्ध हाथियों के झुण्ड को छिन्न-भिन्न करने वाले सिंह के समान हैं, भव्य अर्थात् भले लोगों रूपी कमलों को प्रफुल्लित करने वाले दिवाकर हैं और कन्दर्प अर्थात् कामदेव के दर्प का अपहरण करने वाले हैं, उनकी विजय हो ।

उपर्युक्त श्लोकों आदि में जिन गुणनन्दि का स्मरण और गुणगान है वह श्री देवनन्दि पूज्यपाद विरचित 'जैनेन्द्र सूत्र' (व्याकरण ग्रन्थ) पर 'जैनेन्द्र प्रक्रिया' अथवा 'शब्दार्णव' नामक व्याकरण ग्रन्थ की रचना करने वाले प्रतीत होते हैं । चन्द्रगिरि के उपर्युक्त शिलालेख के अनुसार गुणनन्दि श्री गृद्धपिच्छ मुनि के प्रशिष्य और बलाकपिच्छ मुनि के शिष्य थे । गृद्धपिच्छ और बलाकपिच्छ मुनियों के नाम नहीं अपितु उनके विशेषण प्रतीत होते हैं । तर्क, व्याकरण, साहित्य और शास्त्रों के महाविद्वान इन गुणनन्दि के ३०० शास्त्र पारंगत शिष्य और उनमें से ७२ के सिद्धान्त शास्त्री होने के उल्लेख भी उक्त शिलालेख में है और उनमें नय प्रमाण में निपुण सिद्धान्त के ज्ञाता देवेन्द्र मुनि नाम प्रमुख है । डा० ज्योति प्रसाद जैन ने 'जैनेन्द्र प्रक्रिया' रचयिता गुणनन्दि मुनि को देवनन्दि पूज्यपाद का प्रशिष्य बताया है और उनका समय लगभग ५५० ईस्वी अनुमनित किया है ।

—रमा कान्त जैन

श्रमण संस्कृति की प्राचीनता

—इतिहास-मनीषी डा० ज्योति प्रसाद जैन

श्रमण संस्कृति अखिल भारतीय संस्कृति की वह शुद्ध देशज सर्वप्राचीन धारा है जो मूलत: न केवल अवैदिक थी वरन् प्राग्वैदिक भी है। 'श्रमण' शब्द संस्कृत भाषा का है और इसके प्राकृत रूप शमन, समण एवं समन प्राप्त होते हैं, और इनकी व्युत्पत्ति श्रम, शम तथा सम धातुओं से की जाती है। जो श्रम अर्थात् तपादि पुरुषार्थ द्वारा आत्मसाधना करते हैं, क्रोध-मान-माया-लोभ-काम आदि समस्त आत्मीक विकारों का शमन करने में संलग्न रहते हैं, और पूर्णरूपेण समत्व की साधना करते हैं, वे साधक श्रमण कहलाते हैं। जैन मुनियों के लिए यह संज्ञा विशेषरूप से व्यवहृत होती आई है। प्राचीन साहित्य में अन्तिम जैन तीर्थंकर भगवान महावीर के लिए भी 'समणे भगवं महावीरे' (श्रमण भगवान महावीर) प्रयोग बहुलता के साथ हुआ प्राप्त होता है। इस परम्परा के साधक मुनि यदि श्रमण कहलाये तो उनके अनुयायी गृहस्थ श्रमणोपासक, श्रमण-श्रावक या श्रावक कहलाये। वस्तुत: जैनधर्म, उसके साधक श्रमण साधु-साध्वियाँ, उपासक गृहस्थ श्रावक-श्राविकाएँ, तथा इन सब से सम्बन्धित संस्कृति ही उक्त श्रमणधारा का सदैव से प्रतिनिधित्व करते आये हैं। अर्हत, केवलि, जिन या तीर्थंकर इस संस्कृति के प्रस्तोता रहे हैं और उनके अनुयायी मुनि, आर्यिका, श्रावक एवं श्राविकाएँ उनके पोषक एवं वाहक रहते आये हैं।

यह अत्युक्ति नहीं है कि अहिंसा, आचार, निवृत्ति एवं अध्यात्म प्रधान यह श्रमणधारा, ऐतिहासिक दृष्टि से, प्रागैतिहासिक सिन्धु घाटी सभ्यता के उदय के भी बहुत पहले से चली आ रही है। स्वयं जैन तत्त्वज्ञान एवं अनुश्रुतियों से ही नहीं, वरन् ऋग्वेदादि वैदिक साहित्य, श्रीमद्भागवत आदि ब्राह्मणीय पुराण ग्रन्थों, बौद्ध साहित्य, पुरातत्त्व आदि विविध साक्ष्यों से इस तथ्य का समर्थन होता है। आधुनिक प्राच्यविद् एवं इतिहासकार भी उसे बहुधा स्वीकार करने लगे हैं।

किसी समय कतिपय प्रारंभिक यूरोपीय प्राच्यविदों ने जैनधर्म को बौद्धधर्म की ही एक उत्तरवर्ती शाखा घोषित कर दिया था। सतत् खोज एवं अध्ययन के फलस्वरूप भ्रम का अन्धकार हटता गया, और यह तथ्य प्रमाणसिद्ध

मान लिया गया कि जैनधर्म की स्वतन्त्र सत्ता सुदूर अतीत से रहती आई है, बौद्धधर्म के संस्थापक शाक्यमुनि गौतम बुद्ध के ज्येष्ठ समकालीन निर्ग्रन्थ-ज्ञातृपुत्र श्रमण भगवान महावीर (५९९-५२७ ईसापूर्व) जैनधर्म के प्रवर्त्तक नहीं वरन् अन्तिम तीर्थंकर थे और उनसे अढ़ाई सौ वर्ष पूर्व हुए २३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ (८७७-७७७ ईसापूर्व) भी एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे। जब 'महाभारत' में वर्णित घटनाओं एवं उसके प्रधान नायक नारायण कृष्ण को भी ऐतिहासिक मान्यतामिल गई तो स्वयं उनके सगे ताऊजात भाई २२ वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि के अस्तित्व में अविश्वास करने का कोई कारण नहीं रहा। ऋग्वेद एवं यजुर्वेद के कतिपय मन्त्रों में भी अरिष्टनेमि का उल्लेख पाया जाता है, और लगभग पार्श्व कालीन मध्य एशिया के खिल्दियन सम्राट ने बुचेदनजर के गिरिनगर में प्राप्त दानपत्र से भी सिद्ध हुआ कि उस काल में भी तीर्थंकर अरिष्टनेमि की उपासना प्रचलित थी और रैवतक पर्वत (गिरनार) उनका पवित्र तीर्थ माना जाता था। क्योंकि रामायण में वर्णित घटनाओं को स्थूलत: तथा उसके नायक मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र की सत्ता भी मान्य की जाती है तो प्राय: उसीकाल में हुए बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत-नाथ का अस्तित्व स्वयं सिद्ध है। इतना ही नहीं, मुनिसुव्रत के पहले १९ अन्य तीर्थंकर हो चुके थे, जिनमें से कई के नामों का उल्लेख वेदों में भी प्राप्त होता है। स्वयं प्रथम तीर्थंकर आदिपुरुष ऋषभदेव के कई प्रत्यक्ष एवं परोक्ष उल्लेख ऋग्वेद के मन्त्रों में प्राप्त हैं, और भागवत् आदि अनेक ब्राह्मणीय पुराणों में उन्हें विष्णु का एक प्रारंभिक अवतार मान्य किया है। इन उल्लेखों से ऋषभ का जैनधर्म या आर्हत्मत के साथ सम्बन्ध भी स्पष्ट सूचित होता है। ये ग्रन्थ इस जैन अनुश्रुति का भी पूर्णतया समर्थन करते हैं कि भगवान ऋषभ के ज्येष्ठ पुत्र भरतचक्रवर्ती के नामपर ही इस महादेश का नाम भारतवर्ष प्रचलित हुआ। महाभारतकार महर्षि व्यास ने भी ऋषभदेव का स्तवन किया है और बौद्ध ग्रन्थ धम्मपद तथा बौद्धाचार्य आर्यदेव ने भी उनका उल्लेख किया है। इन साक्ष्यों के आधार पर डा० एस० राधाकृष्णन प्रभृति कई प्रौढ़ मनीषियों का अभिमत है कि ऋषभदेव की सत्ता तथा उनसे सम्बन्धित जैन अनुश्रुतियों को अविश्वसनीय नहीं माना जा सकता। कुछ पुरातत्त्वज्ञों का यह भी मत है कि प्रागैतिहासिक सिन्धुघाटी सभ्यता के अवशेषों में जो वृषभयुक्त नग्न कायोत्सर्ग योगियों के मुद्रांकन मिले हैं—हड़प्पा के अवशेषों में तो एक नग्न योगि मूर्त्ति का धड़ भी मिला है—उनसे यह अनुमान किया

जा सकता है कि उक्तकाल में एवं उक्त प्रदेशों में वृषभलांछन दिगम्बर योगिराज प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की उपासना प्रचलित थी।

वास्तव में, आर्हत-बार्हत, व्रात्य-वैदिक, श्रमण-ब्राह्मण, निर्ग्रन्थ-सग्रन्थ, निवृत्ति-प्रवृत्ति, अनेकान्ती-वेदान्ती आदि रूपों में जैन एवं जैनेतर परम्पराओं का द्वन्द्व भारतीय संस्कृति में सुदूर अतीत से रहता चला आया है। दोनों में क्रिया-प्रतिक्रियाएँ भी हुईं, अदान-प्रदान भी हुए, अनेक अंशों में एक धारा ने दूसरी धारा को प्रभावित भी किया, तथापि अपना-अपना स्पष्ट व्यक्तित्व मौलिकता एवं अस्तित्व भी बनाये रक्खा।

पूर्वोक्त प्रागैतिहासिक पुरावशेषों के अतिरिक्त अन्य जितने भी पुरातत्व, शिलालेख आदि प्राचीन अवशेष आज उपलब्ध हैं वे सब प्रायः ऐतिहासिक काल की परिधि के भीतर ही हैं—उन सबके द्वारा सूचित कालों के बहुतपूर्व से श्रमणसंस्कृति का अस्तित्व निर्विवाद रूप से सिद्ध है। अतएव इस संस्कृति तथा उसके आधारभूत जिनधर्म या आर्हतधर्म की प्राचीनता में कोई सन्देह ही नहीं, बल्कि यह तथ्य है कि श्रमण संस्कृति भारतवर्ष की सर्व प्राचीन जीवित संस्कृति है।

——

एक ऐतिहासिक दस्तावेज

— श्री अजित प्रसाद जैन

अखिल भा० दिगम्बर जैन परिषद की स्थापना दिल्ली में सन् १९२३ में पंच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के सुअवसर पर सम्पन्न उस समय तक दिगम्बर जैन समाज की एक मात्र प्रतिनिधि सामाजिक-धार्मिक संस्था श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा के वार्षिक अधिवेशन में स्थिति पालक तत्वों की संकीर्ण मनोवृत्ति तथा रूढ़ि पोषक नीतियों से खिन्न होकर पूं. ब्रह्मचारी शीतल प्रसाद जी तथा बैरिस्टर चम्पतराय जी के नेतृत्व में प्रगतिशील एवं सुधारवादी युवकों ने महासभा से पृथक एक बैठक करके की थी। (उस ऐतिहासिक महोत्सव में हमें भी सम्मिलित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था यद्यपि बाल्यावस्था के कारण हमें उस समय खेल तमाशे के अलावा कोई और समझ नहीं थी) तब से परिषद् दिगम्बर जैन समाज की सुधारोन्मुख गतिविधियों का प्रतीक बन गई। कुशल नेतृत्व के मार्गदर्शन में परिषद के मंच से समय-समय पर पारित साहसपूर्ण प्रस्ताव तथा समाज सुधार की लगन लिए हुए उसके कर्मठ कार्यकर्ताओं द्वारा उनको अमली जामा पहिनाने के लिए नगर-नगर व ग्राम-ग्राम में किए गए सघन प्रचार से समाज को अतीत में अनेक कुरीतियों से पूर्णतः या न्यूनाधिक मुक्ति मिली है। प्रकृति से रूढ़ीवादी दिगम्बर जैन समाज में नवचेतना की जाग्रति लाने में अतीत में परिषद का बहुमूल्य योगदान रहा है।

परिषद के केन्द्रीय कार्यालय ने सन् १९२४ से १९९० तक के अधिवेशनों में पारित प्रस्तावों का एक संकलन प्रकाशित किया है जो एक संग्रहणीय ऐतिहासिक दस्तावेज है तथा अन्य अखिल भारतीय संस्थाओं के लिए अनुकरणीय कदम है। परिषद के विभिन्न अधिवेशनों में पारित कुछ महत्वपूर्ण प्रस्ताव निम्न प्रकार हैं :—

(१-क) जैन मन्दिरों, तीर्थ क्षेत्रों एवं शास्त्र भण्डारों में धोती/रुपट्टे, शास्त्र वेष्ठन आदि में शुद्ध स्वदेशी वस्त्रों का उपयोग किया जाय, रेशम आदि के अशुद्ध वस्त्रों को न चढ़ाया जाए। (अधिवेशन, १९२४)।

(१-ख) बाद में (कदाचित् राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन से प्रभावित होकर) मिल कपड़ों के निर्माण में चर्बी तथा अपवित्र पदार्थों के उपयोग होने के कारण मन्दिरों में पूजादि के वस्त्रों, चन्दोवों व वेष्ठन आदि में केवल शुद्ध खादी का प्रयोग करने की सलाह करने की सलाह दी गई। (अधि० १९२५, १९२८, व १९२९)।

[इस प्रस्ताव के कार्यान्वयन में इस शती के तीसरे व चौथे दशक में (विशेषकर १९२४ से १९३८ की अवधि में) दिल्ली तथा उत्तर प्रदेश के मेरठ मुजफ्फर नगर, सहारनपुर, बुलन्द शहर आदि पश्चिमी जिलों में व हरियाणा-पंजाब के अधिकांश जिलों में जैन मन्दिरों में खादी के वस्त्रों का ही प्रयोग किया जाने लगा था किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त स्वयं काँग्रेस का खादी के उपयोग पर आग्रह शनः शनः शिथिल होते जाने का प्रभाव इस प्रस्ताव के अमल पर भी पड़ा।]

(२–क) जैन इतिहास तैयार करने के लिए एक इतिहास विभाग स्थापित किया जाए। जिसके मंत्री बा० हीरालाल जैन एम. ए. (बाद में प्रोफेसर डाक्टर) स्वयं तथा श्री मुनिसुव्रत दास जी बैरिस्टर मेरठ व बा० कामता प्रसाद जी (अलीगंज-एटा) तथा अन्य विद्वानों से सहायता लेकर इतिहास तैयार करें। (अधि० १९२४ व १९३२)

(हमें इसकी जानकारी नहीं है कि परिषद के उक्त इतिहास विभाग ने क्या कार्य किया किन्तु कालान्तर में इसी प्रस्ताव से प्रेरणा प्राप्त करके तथा भारतीय इतिहासकारों द्वारा जैन स्रोतों की उपेक्षा तथा अज्ञानता का अनुभव करके इतिहास-मनीषी डा० ज्योति प्रसाद जैन जी ने अपने सुप्रसिद्ध शोध प्रबन्ध "Jaina Sources of Ancient Indian History" तथा अमर इतिहास ग्रंथ 'भारतीय इतिहास–एक दृष्टि' एवं "ऐतिहासिक जैन पुरुष एवं महिलाएं" की रचना की)

(२–ख) इतिहास सामग्री संकलित करने के लिए परिषद कार्यालय में विभिन्न स्थानों के मन्दिरों से प्रतिमा व यन्त्रों के लेखों की प्रतिलिपियाँ प्राप्त कर संग्रहीत की जाए। (नैमि० अधि० १९२४)

(कदाचित दिल्ली के जैन मन्दिरों का प्रतिमा लेख संग्रह इसी प्रस्ताव के प्रकाश में प्रकाशित हुआ था। तथापि हमें इसकी निश्चित जानकारी नहीं है कि परिषद कार्यालय में प्रतिमा-यंत्र लेख संग्रह की दिशा में कितना कार्य हुआ तथा किन-किन स्थानों से लेख संग्रह प्राप्त हुए। परिषद कार्यालय में जो भी प्रतिमा-यंत्र लेख संग्रहीत हुए उन्हें परिषद को पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित करना चाहिए या समाज की शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित कराना चाहिए। हम अपनी शोध पत्रिका "शोधादर्श" में ऐसे संकलन क्रमशः प्रकाशित करने के लिए सहर्ष तैयार हैं।)

(३) जैन तीर्थों के सम्बन्ध में दिगम्बरों-श्वेताम्बरों के विवाद आपसी बातचीत से सुलझाए जाएं। (अधि० १९२४)

(बाद में तीर्थ क्षेत्रों के विकास एवं सुरक्षा के लिए विशेष रूप से गठित श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी तथा उसकी आंचलिक कमेटियों को इस दिशा में राजगृह, कम्पिला जी आदि कतिपय क्षेत्रों पर आंशिक सफलता मिली है पर अभी श्री सम्मेद शिखर जी, मक्सी पार्श्वनाथ आदि कई तीर्थ क्षेत्रों के विवाद न्यायालयों में लम्बित चल रहे हैं।

दिगम्बर जैन समाज के प्रमुखों द्वारा तीर्थ क्षेत्रों के विवाद श्वेताम्बर समाज से सौहार्द पूर्ण वार्ता द्वारा सुलझाये जाने के गत ६५–७० वर्षों से चल रहे प्रयासों की अति सीमित सफलता को देखते हुए ऐसा लगता है कि इन विवादों को सुलझाने के हमारे ढंग में कुछ सुधार की आवश्यकता है। इस समय दिगम्बर–श्वेताम्बर दोनों समाजों में मिलाकर उच्च न्यायाधीश उपलब्ध है। हमारा सुझाव है कि दोनों समाजों के प्रमुखों की सहमति से इन माननीय जजों का एक पंच निर्णायक मण्डल गठित कर दिया जाए, जिसका अध्यक्ष सर्वाधिक वयोवृद्ध जज हो। तीर्थ क्षेत्र कमेटियाँ इस पंच निर्णायक मंडल को सभी लम्बित वाद सौंप दें तथा उसके निर्णय को स्वीकार कर न्यायालयों से विवाद वापस लें। हम आशा करते हैं कि भारतवर्षीय दि० जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी हमारे इस सुझाव पर गंभीरता से विचार करेगी।)

(४) बाल विवाह, वृद्ध विवाह और कन्या विक्रय की कुप्रथाओं को बन्द किया जाय। (अधि० १९२४)

(ये कुप्रथायें समाज में अब लगभग समाप्त हो गई हैं)

(५) बिम्ब व वेदी प्रतिष्ठायें बहुत सादगी व कम खर्च में की जाएं। (अधि० १९२४)

(इस प्रस्ताव का समाज पर कोई असर नहीं पड़ा मालूम पड़ता। अब तो बहुत से पूजा विधानों में ही वैभव पूर्ण प्रदर्शन के साथ लक्षाधिक व्यय होने लगा है।)

(६) समाज में उच्च धार्मिक एवं लौकिक शिक्षा हेतु छात्र वृत्ति फंड स्थापित किया जाय। (अधि० १९२४)

(तबसे समाज में कई छात्र वृत्ति फंड स्थापित किए जा चुके हैं। हमारी तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ० प्र० ने भी "तीर्थंकर छात्र सहायता कोष" के नाम से एक छात्र वृत्ति फंड स्थापित किया हुआ है।)

(७) धर्म प्रचार हेतु जैन धर्म के महत्व को दर्शाने वाले ट्रैक्ट (लघु पुस्तिकाएं) प्रसिद्ध विद्वानों से लिखवाकर बड़ी संख्या में वितरित कराई जाएं। (अधि० १९२४)

(इस दिशा में भारत जैन महामंडल, बम्बई, अखिल विश्व जैन मिशन, अलीगंज तथा शास्त्री परिषद, बड़ौत द्वारा विशेष कार्य किया गया है। परिषद द्वारा इस संबंध में कोई उल्लेखनीय कार्य किये जाने की हमें जानकारी नहीं है।)

(८) मध्य प्रदेश में कलचूरी वंश की संतान जैन कलार जाति दो लाख से ऊपर है तथा श्री महावीर जी की समीपवर्ती मीना गूजर जातियों में जैन धर्म प्रचार का कार्य प्रारम्भ किया जावे। (अधि० १९२६)। श्री चन्द्र सेन वैद्य इटावा को इनमें धर्म प्रचार का कार्य सौंपा गया। (अधि० १९२७)

कलार जाति में धर्म का प्रचार का कुछ कार्य हुआ तथा सन् १९२८ व २९ के अधिवेशनों में सेठ माणिक चन्द बम्बई के ट्रस्ट द्वारा प्रचार कार्य में लगाए गए ब्र० कुंवर दिग्विजय सिंह के प्रयासों की सराहना करते हुए आगे इस कार्य को बहुत तेजी से बढ़ाने का प्रस्ताव पास किया गया।

(बाद के अधिवेशनों में इन जातियों का सर्वे कराने के संकल्प के अलावा इनमें धर्म प्रचार के संबंध में कोई उल्लेख नहीं मिलता। कदाचित परिषद ने इस ओर विशेष ध्यान देना छोड़ दिया। उस दिशा में जो कार्य हुआ है या हो रहा उसकी जानकारी परिषद को देनी चाहिए। बिहार बंगाल की सीमा पर बसी हुई सराक जाति में भी धर्म प्रचार आदि का काफी कार्य कुछ समय पूर्व तक किया गया था लेकिन जैन पत्र-पत्रिकाओं में इन जातियों के विषय में अब कुछ नहीं छपता।)

(९) नवीन बिम्ब प्रतिष्ठाओं की संख्या में हर वर्ष हो रही वृद्धि के वेग को रोक कर जहाँ अधिक प्रतिमाएं हों वहाँ से लाकर नवीन मन्दिरों में विराजमान की जाएं। (अधि० १९२६)

(इस प्रस्ताव का समाज पर कोई प्रभाव मालूम नहीं पड़ता। इसके विपरीत नवीन बिम्ब प्रतिष्ठाओं की संख्या में हर वर्ष वृद्धि ही होती जा रही है।)

(१०) जैन धर्मानुयायी जातियों में जिनके आचार विचार एक से हैं परस्पर अन्तर्जातीय विवाह सम्बन्ध किए जाए। (अधि० १९२९, १९३१, १९३३, १९३७, १९४१ व १९४४)

(इस प्रस्ताव का व्यापक स्वागत हुआ है तथा महासभा के प्रबल विरोधी प्रचार के बावजूद अब दि० जैन समाज में साधर्मी अन्तर्जातीय विवाह संबंधों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है तथा उन्हें अपवाद नहीं समझा जाता।)

(११) धर्म का प्रचार कर अजैनों को जैन धर्म में दीक्षित किया जावे। जो व्यक्ति जैन धर्म की दीक्षा ले उन्हें भ्रातृ भाव से अपनावें। (अधि० १९२९)

(यह प्रस्ताव कागज पर ही रह गया मालूम पड़ता है। अपनी स्वभावगत धार्मिक संकीर्णता के कारण हमने अनुसूचित जातियों को जैन धर्म में दीक्षित करने के डा० अम्बेदकर के प्रस्ताव को ठुकरा दिया तथा उच्च वर्णों के जिन कतिपय प्रबुद्ध व्यक्तियों ने जैन धर्म स्वीकार किया उन्हें हम सामाजिक रूप से आत्मसात नहीं कर सके।)

(१२) विवाह की रस्मों में सादगी एवं मितव्ययिता :— इस विषय पर अतीत में परिषद ने पर्याप्त ध्यान दिया है तथा कई अधिवेशनों में महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास कर समाज को समुचित दिशा बोध देने का प्रयास किया है—

क) बारात दो दिन से अधिक बेटी वाले के यहाँ न ठहरे, दहेज को बिरारी में न दिखाया जाय। सगाई के लिए लड़की को देखते समय लड़के वाले कोई रकम, वस्त्र स्वीकार न करें। (अधि० १९३१)

ख) बरातियों की संख्या कम से कम रखें तथा सब मिलाकर १०० से अधिक न हो। टोपी, संजोव, लाडकोथली, समधन मिलावा की रस्में बन्द की जाएं। [अधि० १९३२] बूर, बाखेर, वाड़ा बागबहारी, आतिशबाजी, वेश्या नृत्य, नक्काल, भाँड नाच कतई बन्द किए जाएं। बरातियों को टीके में बर्तन देना बन्द किया जाए। [अधि० १९३२]

ग) स्थानीय पंचायत विभिन्न रस्मों पर लेन देन की अधिकतम राशि नियत करें [अधि० १९३५]

घ) सामुहिक विवाह को प्रोत्साहित किया जावे। [अधि० १९५६, १९६०, १९६२]

च) विवाह एक ही दिन में और फेरे भी दिन में हों। [अधि० १९६२]

छ) सारा विवाह कार्य केवल दो रस्मों तक ही सीमित कर दिया जाए और किसी प्रकार की फजूल खर्ची न की जाए। [अधि० १९६६]

(उपरोक्त अधिकांश सुझावों को समाज ने समय के साथ अपना लिया है लेकिन विवाह कार्यों में सादगी के स्थान पर साज सज्जा तथा भोज आदि पर अब भारी वैभव प्रदर्शन एवं अपव्यय होने लगा है। हमें स्मरण है कि चौथे दशक में उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिले में परिषद के कार्यकर्ताओं द्वारा हो रहे प्रचार से स्थानीय बिरादरियों ने जगह जगह विवाह आदि की विभिन्न रस्मों पर व्यय सीमित एवं एक रूप रखने के प्रयोजन से

दस्तूर-ए-अमल बनाए थे जिनका बिरादरी के चौधरी पंच व बुजुर्ग कड़ाई से पालन कराते थे ।)

(१३) मरण भोज :— यह परिषद मरण भोज को धर्म विरुद्ध, अनावश्यक और असभ्य समझती है । इस रस्म को फौरन बन्द किया जाए । [अधि० १९३१, १९३३, १९३४, १९३६, १९३८, १९४१, व १९४४]

(अब यह कुप्रथा समाज में प्राय: समाप्त हो गई है । अपवाद केवल श्रीमंत समाज नेताओं द्वारा ही कभी कभी देखने में आता है पर अब परिषद में परोक्ष रूप में भी उसका कागजी विरोध करने का भी साहस नजर नहीं आता ।)

(१४) दस्सा पूजाधिकार :— मन्दिर जाना किसी भी स्त्री पुरुष का कोई भी अपराध किया जाने पर बन्द न किया जाए, जैन मन्दिर व समस्त जैन शिक्षा संस्थाओं में समस्त जैन मात्र को समान अधिकार दिए जाने चाहिए । [अधि० १९३३, १९३४, १९४२ व १९४४]

(दस्सा पूजाधिकार व अन्तर्जातीय विवाह के प्रस्तावों में सहमत न होने के परिणाम स्वरूप १९४१ के अधिवेशन में तत्कालीन सभापति सेठ बैजनाथ सरावगी को त्याग पत्र देना पड़ा तथा उनकी जगह श्री बाल चन्द जी कौछल, वकील, सागर सभापति चुने गए तथा उनके सभापतित्व में अधिवेशन की शेष कार्यवाही सम्पन्न हुई । ऐसी थी उस समय परिषद की सिद्धान्त प्रियता । दस्सा पूजाधिकार पर अब समाज में कोई विरोध देखने में नहीं आता ।)

(१५) मन्दिर का द्रव्य मन्दिर खर्च के अतिरिक्त धार्मिक उन्नति के अन्य आवश्यक कार्यों पर भी किया जाए । (अधि० १९३४)

(१६) हरिजन प्रवेश— श्रद्धा विनय के साथ आने वाले हरिजनों को जैन मन्दिर में दर्शन करने का अधिकार हो । भारत के नवीन संविधान में जाति-पाति का भेद भाव दूर करने के लिए हरिजनों को अन्य नागरिकों के समान जो अधिकार दिए गए हैं वे जैन धर्म के अनुकूल हैं, उनका यह परिषद स्वागत करती है । [अधि० १९५०, १९५६]

(१९५० के अधिवेशन में यह प्रस्ताव रूढ़ीवादी तत्वों द्वारा प्रबल विरोध किए जाने पर भी अन्तत: सर्व सम्मति से पास किया गया । इस प्रस्ताव से परिषद की उदारवादी छवि में बृद्धि हुई । वस्तुत: जैन मन्दिरों में हरिजन प्रवेश संबंधी आन्दोलन राजनीति से प्रेरित था जो समय के साथ शान्त हो गया ।)

(१७) जैन समाज चमड़े की चीजों का प्रयोग न करें। (अधि० १९३६)

(इस विषय पर बाद के अधिवेशनों में कोई जोर नहीं दिया गया मालूम पड़ता तथा इस ओर अभी भी समाज में भारी उदासीनता है।)

(१८) दहेज— परिषद के शतकीय जन्म शताब्दी अधिवेशन में दहेज की बढ़ती हुई प्रवृत्ति के प्रति चिन्ता व्यक्त की गई तथा जो लोग दहेज आदि के कारण लड़कियों को छोड़ देते हैं उनकी सामाजिक भर्त्सना करने को कहा गया। [अधि० १९७८] ऐसे लोगों का सामाजिक रूप से वहिष्कार किया जाए। [अधि० १९८०]

(दहेज से मुक्ति के लिए कोई ठोस क्रियात्मक रुख अपनाए जाने के संबंध में परिषद के मंच से कोई प्रस्ताव अब तक पारित नहीं किया गया मालूम पड़ता है।)

(१९) देवगढ़ अधिवेशन—अक्तूबर १९९१ में परिषद का अन्तिम अधिवेशन सुप्रसिद्ध कला क्षेत्र देवगढ़ (जिला ललितपुर) में सम्पन्न हुआ जिसमें जीवदया, शाकाहार, पर्यावरण और मादक द्रव्यों के बढ़ते सेवन को रोकने के लिए व्यसन मुक्ति के क्षेत्र में परिषद द्वारा व्यापक स्तर पर कार्य करने का संकल्प किया गया तथा और भी कई औपचारिक प्रस्ताव पारित किए गए।

हमें खेद है कि यद्यपि यह अधिवेशन देवगढ में ही सम्पन्न हुआ, इस अधिवेशन में किसी भी विद्वान मनीषी, श्रेष्ठि अथवा प्रबुद्ध समाज सुधारक द्वारा क्षेत्र पर हो रहे बहुमूल्य पुरा सम्पदा के विचित्र जीर्णोद्धार पर जिसमें अति प्राचीन अर्हन्त मूर्तियों पर तीर्थंकर के नाम व चिन्ह उकेर दिए गए हैं और इस प्रकार उनकी प्राचीनता पाँच सात सौ वर्ष कम कर दी गई है, कोई चर्चा नहीं की गई, चिन्ता नहीं प्रकट की गई या मौखिक विरोध भी नहीं किया गया। इसी प्रकार इस समय समाज की प्रमुख ज्वलन्त समस्या दहेज की रोकथाम के विषय पर कोई चर्चा नहीं की गई। और न ही हमारे त्यागी संतों में बढ़ते शिथिलाचार तथा उपहासपद ढपोरशंखी उपाधियों से अपने को अलंकृत करवाने के व्यामोह के विरोध में कोई स्वर उजागर करने का साहस दिखाया गया।

यह समाज का दुर्भाग्य है कि अतीत में समाज सुधार तथा धर्माचरण में व्याप्त विकृतियों को दूर करने में बड़े-बड़े काम करने वाली परिषद आज एक

(शेष पृष्ठ १६ पर)

जैन एवं बौद्ध दर्शनों में आत्मवाद

—डा० विजय कुमार

'आत्मवाद' भारतीय दर्शन का केन्द्र बिन्दु है। भारतीय दर्शन की कोई भी ऐसी शाखा नहीं जिसने 'आत्मा' की सत्ता को स्वीकार न किया हो। क्योंकि भारतीय दर्शन की प्राय: सभी शाखाओं में 'आत्म तत्व' का विवेचन किसी न किसी रूप में देखा जाता है। फर्क इतना ही है कि किसी ने उसे नित्य माना है तो किसी ने अनित्य और किसी ने नित्य-अनित्य दोनों स्वीकार किया है। यदि हम उपनिषद् की दृष्टि से देखें तो पायेंगे कि आत्मा ब्रह्म का एक अंश है, जो नित्य है। चार्वाक, जिसे सीधे तौर पर अनात्मवादी घोषित किया जाता है, ने भी आत्मा का पूर्णत: निषेध नहीं किया बल्कि उसका मानना है कि आत्मा न तो नित्य है और न ही उसकी स्वतन्त्र सत्ता है अपितु वह भौतिक तत्वों के संयोग से उत्पन्न होती है तथा शरीर के नष्ट होने के साथ ही वह भी नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार न्याय-वैशेषिक, आत्मा को ज्ञान, सुख-दु:ख राग-द्वेष, इच्छा आदि गुणों से युक्त मानता है। सांख्य दर्शन ने आत्मा को चेतन पर निष्क्रिय तथा नित्य माना है जिसे उसने पुरुष नाम से सम्बोधित किया है। इस प्रकार, भारतीय दर्शन की प्राय: सभी शाखाओं ने आत्मा की सत्ता को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है। प्रस्तुत लेख में हम यह

(पृष्ठ १५ का शेष)

कागजी केवल शीर्ष मंच वाली संस्था सिमट कर रह गई जिसने धीरे-धीरे अपना जनाधार खो दिया है तथा जिसके पास आज अपने प्रस्तावों तथा संकल्पों को कार्यान्वित कराने की कोई मशीनरी समर्पित कार्यकर्ताओं के रूप में नहीं रह गई है। यहाँ तक कि परिषद का मुख पत्र 'वीर' भी नियमित रूप से नहीं निकल पा रहा है। आज परिषद को पुन: एक ब्र० शीतल जैसे जन नेता की जरूरत है जो दि० जैन समाज को समय के साथ चलने को प्रेरित कर सके।

परिषद द्वारा विभिन्न अधिवेशनों में पारित प्रस्तावों का अवलोकन करने पर बड़ा विस्मय हुआ कि विधवा विवाह प्रचार के लिए बदनाम की जाने वाली परिषद ने अपने मंच से विधवा विवाह के प्रोत्साहन या समर्थन में कभी कोई प्रस्ताव पास नहीं किया। ★

देखने का प्रयत्न करेंगे कि जैन एवं बौद्ध दर्शनों में आत्मा की सत्ता को किस रूप में प्रतिपादित किया गया है।

आत्मा का स्वरूप – जैन दृष्टि में :

जैन दर्शन में आत्मा के लक्षण और स्वरूप के सम्बन्ध में अत्यन्त ही सूक्ष्मता एवं गम्भीरता से विचार किया गया है। जैन दर्शन में नौ पदार्थ, सात तत्व, छः द्रव्य एवं पंचास्तिकाय स्वीकार किये गये हैं, जिनमें 'आत्मा', जिसे जीव नाम से इंगित किया गया है, का मुख्य स्थान है। तत्वार्थसूत्र में आत्मा या जीव का लक्षण बतलाते हुए उमास्वाति ने कहा है कि उपयोग ही जीव का लक्षण है।[1] उपयोग यानी बोधगम्यता, जो चेतन आत्मा को छोड़कर अन्य किसी द्रव्य में नहीं पायी जाती। क्योंकि जिसमें चेतना नहीं होगी वह किसी चीज की उपयोगिता को क्या समझेगा। इसीलिए उपयोग को जीव का लक्षण माना गया है। उपयोग दो प्रकार के हैं – ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। जिसमें ज्ञानोपयोग साकार है तथा दर्शनोपयोग निराकार। परन्तु उत्पत्ति की दृष्टि से दर्शन का स्थान पहले आता है और ज्ञान का स्थान बाद में। क्योंकि ज्ञान निर्णयात्मक होता है।

ज्ञान आत्मा का स्वरूप है, उसका स्वभाव है। जैनाचार्य कुन्दकुन्द का मानना है कि आत्मा ज्ञान वाला नहीं बल्कि ज्ञान ही आत्मा है, दोनों में कोई भेद नही है।[2] पुनः समयसार में आचार्य ने कहा है कि मैं (आत्मा) एक मात्र उपयोगमय अर्थात् ज्ञानमय हूं।[3] तात्पर्य यह है कि जो कुछ ज्ञान है, वही आत्मा है और जो कुछ आत्मा है, वह ज्ञान ही है। इसे दूसरी भाषा में इस तरह कहा जा सकता है कि जहाँ-जहाँ आत्मा है, वहाँ-वहाँ ज्ञान है और जहाँ-जहाँ ज्ञान है वहाँ-वहाँ आत्मा है। ज्ञान कभी भी आत्मा से अलग नही हो सकता चाहे वह संसारी अवस्था में हो या मुक्त अवस्था में।

आत्मा सचेतन तथा अनन्त चतुष्टयात्मक होता है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त वीर्य – ये चार चतुष्टय हैं जिनकी प्राप्ति ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्मों के क्षय से होती है।

जीव अनादि निधन है अर्थात् न जीव का आदि है और न अन्त। नित्यानित्य है, द्रव्य की दृष्टि से शाश्वत तथा भाव की दृष्टि से अशाश्वत है।[4] जैसे स्वर्ण धातु को मुकुट, कर्णफूल आदि अनेक रूप दिये जाते हैं फिर भी मूलतः स्वर्ण ही रहता है, सिर्फ नाम और रूप का अन्तर रहता है वैसे ही जीव चारों गतियों[5] में भ्रमण करने के बाद भी मूल रूप में जीव

ही रहता है, इसलिए शाश्वत है और मनुष्यादि पर्यायों में परिणत होते रहने के कारण अशाश्वत है।

जीव को पाँच भावों वाला माना गया है। पर्याय की विभिन्न अवस्थाएँ ही भाव कहलाती है, जो पाँच प्रकार की हैं–औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक एवं पारिणामिक। औपशमिक भाव में सत्तागत कर्म रुक जाते हैं, दब जाते हैं जिसके फलस्वरूप जो आत्मशुद्धि होती है उसे औपशमिक भाव कहते हैं। कर्मों के पूर्णतः क्षय हो जाने से जो आत्मशुद्धि होती है उसे क्षायिक भाव कहते हैं। कुछ कर्मों का दब जाना, कुछ का क्षय हो जाना क्षायोपशमिक भाव है। दबे हुए कर्मों का उदय हो जाना औदयिक भाव है। द्रव्य के परिणमन से जो भाव बनता है, वह पारिणामिक भाव है।

जीव अनन्त हैं फिर भी पर्याय विशेष की सद्भाव तथा असद्भाव की दृष्टि से दो भेद किये गये हैं–संसारी एवं मुक्त। संसारी आत्मा रूप पर्याय सहित होता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जो जीव शरीर धारण कर कर्म-बंधन के कारण नाना योनियों में भ्रमण करता है, उसे संसारिक जीव कहते हैं। संसारी जीव शरीर से भिन्न नहीं होता। जिस प्रकार दूध में पानी एक से प्रतीत होते हैं उसी प्रकार संसारी जीव शरीर से अलग प्रतीत नहीं होते। संसारी आत्मा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध होता है। वह चैतन्य स्वरूप, परिणामी, कर्त्ता, साक्षात् भोक्ता, स्वदेह परिमाप प्रत्येक शरीर में भिन्न तथा पौद्गलिक कर्मों से युक्त होता है।[6] मुक्त आत्मा वह है जो सभी प्रकार के कर्मबंधनों से छूट गया होता है। मुक्त आत्माओं को सांसारिक क्रिया-कलापों से कोई संबंध नहीं रहता है। उनके शरीर, शरीर-जन्य क्रिया तथा जन्म और मृत्यु कुछ भी नहीं होते। वे आत्म-स्वरूप हो जाते हैं। अतएव उन्हें सत्-चित्-आनन्द कहा जाता है। जीव का जब एक बार इस संसार चक्र से नाता टूट जाता तब वह अपने उर्ध्वगमन स्वभाव (दीपशिखा की तरह) के कारण लोकाग्र में जा पहुँचता है जहाँ अनन्तकाल तक शुद्ध चैतन्य स्वरूप में लीन रहता है।

जीव प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रमाणित है क्योंकि हमें उसकी आत्मानुभूति होती है। संशय आदि जितनी भी मानसिक और बौद्धिक क्रियाएँ हैं सब आत्मा के कारण ही हैं। जहाँ संशय होता है वहाँ आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करना ही पड़ता है।[7] जैसा कि भगवान महावीर ने गौतम से कहा है कि हे! गौतम यदि संशयी नहीं है तो 'मैं हूं' या 'मैं नहीं हूँ' यह संशय कहाँ से

उत्पन्न होता है। यदि तुम स्वयं ही अपने खुद के विषय में संदेह कर सकते हो तो फिर किसमें संशय न होगा।[8] जीव चैतन्य स्वरूप है, क्योंकि यह चैतन्य ही ज्ञाता है, द्रष्टा है। जीव को प्रभु इसलिए कहा जाता है कि वह अपने कर्मों का स्वतः स्वामी होता है। जीव, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक आदि पाँच भावों का कर्त्ता होने से, कर्त्ता कहलाता है। चूंकि कर्त्ता है तो भोक्ता भी होगा, क्योंकि वह सुख-दुख का भोग भी करता है। जीव को शरीर के बराबर कहने का तात्पर्य है कि आत्मा, शरीर के प्रत्येक अंग में व्याप्त रहता है और शरीर के अनुसार ही वह अपने को बढ़ाता है तथा संकुचित करता है। यही तो जैन दर्शन की विशेषता है कि आत्मा स्वतंत्र भी है और स्वदेह परिमाण भी।

आत्मा अनन्त है तथा प्रत्येक शरीर में भिन्न है। क्योंकि संसार में हमें जीवित प्राणियों के गुणों में भेद देखने को मिलता है। आत्मा की भिन्नता जैन दर्शन की इस मान्यता से बिल्कुल ही स्पष्ट हो जाती है कि एक शरीर में अनेक आत्माएँ रह सकती हैं किन्तु एक आत्मा में अनेक शरीर नहीं रह सकते।[9] अनेक आत्माएँ एक शरीर में ठीक उसी प्रकार रहती हैं जिस प्रकार एक कमरे को दो दीपक प्रकाशित करते हैं। इनमें जड़द्रव्यों की भाँति कोई टकराहट नहीं होता।

आत्मा का स्वरूप – बौद्ध दृष्टि में :

भगवान् बुद्ध के 'आत्मवाद' को समझने से पूर्व उनके अनात्मवाद को जानना एवं समझना आवश्यक जान पड़ता है क्योंकि बुद्ध पक्के अनात्मवादी के रूप में जाने जाते हैं, उन्होंने आत्मा की सत्ता की अवहेलना करते हुए मज्झिम-निकाय में कहा है कि जो यह मेरा आत्मा अनुभवकर्त्ता है, अनुभव का विषय है और जहाँ-तहाँ अपने बुरे कर्मों के विषयों को अनुभव करता है, यह मेरा आत्मा नित्य, ध्रुव, शाश्वत तथा अपरिवर्त्तनशील है, अनन्त वर्षों तक वैसा ही रहेगा– हे! भिक्षुओं यह भावना बिल्कुल बालधर्म है।[10] हम जिसे नित्य, ध्रुव, शाश्वत और अपरिवर्तनशील समझते हैं, वह अनित्य, अध्रुव, अशाश्वत और परिवर्तनशील है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान सारे धर्म अनात्म हैं।[11] इतना ही नहीं बुद्ध ने चक्षु आदि इन्द्रियाँ, उनके विषय, उनसे होने वाले ज्ञान, मन, मानसिक धर्म और मनोविज्ञान आदि सबको अनित्य, दुःखात्मक तथा अनात्म घोषित किया है। पर, मन में सवाल उत्पन्न होता है कि 'आत्मा' जिसे नित्य, ध्रुव माना गया उसे बुद्ध ने अनात्म घोषित किया

है। आखिर क्यों ? जैसाकि बुद्ध का मानना है कि आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करना ही सभी दोषों का मूल है। जिसकी पुष्टि आचार्य नागार्जुन के इस कथन से होती है कि जो आत्मा को देखता है उसी पुरुष का 'अहं' के लिए सदा स्नेह बना रहता है, स्नेह से तृष्णा उत्पन्न होती है जो दोषों को ढ़क लेती है। गुणदर्शी पुरुष इस विचार से कि 'विषय मेरे हैं' साधनों को ग्रहण करता है। तृष्णा से उपादान की उत्पत्ति होती है। अत: जब तक यह आत्माभिनिवेश है तब तक यह संसार है। आत्मा के रहने पर ही 'पर' का ज्ञान होता है। 'स्व' और 'पर' के विभाग से राग द्वेष की उत्पत्ति होती है और राग दोष के कारण ही समस्त दोष उत्पन्न होते हैं। अत: इसको हटाने से ही सभी दोषों का निराकरण हो सकता है।[12] इस तरह बुद्ध ने सर्व अनात्म का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है और आत्मा को सभी दोषों का मूल बताया।

परन्तु भगवान् बुद्ध के अनात्मवाद से यह नहीं समझना चाहिए कि उन्होंने आत्मा की सत्ता का सर्वथा निषेध किया है। उन्होंने नित्य, शाश्वत, ध्रुव और अपरिवर्तनशील आत्मा की सत्ता का निषेध करते हुए कहा है कि आत्मा कोई नित्य कूटस्थ वस्तु नहीं है, बल्कि खास कारणों से, स्कंधों के योग से उत्पन्न एक शक्ति है जो अन्य बाह्य भूतों की भाँति उत्पन्न एवं विलीन होती रहती है। जिसे दीपशिखा का उदाहरण देकर स्पष्ट किया है। हम समझते हैं कि एक दीपक रातभर जलता रहता है परन्तु वस्तुस्थिति यह होती है कि पहले प्रहर की दीपशिखा जो समाप्त हो चुकी रहती है, से दूसरे प्रहर की दीपशिखा भिन्न होती है। इस प्रकार दीपशिखा प्रतिक्षण बदलती रहती हैं पर हमें एक सी प्रतीत होती है। ठीक यही बात आत्मा के साथ लागू होती है।

आत्मा, जीव, सत्ता, पुद्गल, मन, चित्त, विज्ञान आदि शब्द एक दूसरे के पर्यायवाची तथा समनार्थक हैं। बौद्धानुयायी आत्मा के लिए विशेष शब्द 'सन्तात' का प्रयोग भी करते हैं। यद्यपि बुद्ध ने आत्मा की स्वतंत्र एवं नित्य सत्ता को स्वीकार नहीं किया है फिर भी उन्होंने मानसिक वृतियों को सहर्ष स्वीकार किया है। हमारी मानसिक वृतियाँ, जैसे–आँखे कोई खट्टी चीज को देखती हैं और जिह्वा से पानी टपकने लगता है, नाक दुर्गन्ध सूंघती है और हाथ नाक पर पहुंच जाता है। जबकि हम जानते हैं कि आंख और जिह्वा एक दूसरे से भिन्न हैं फिर भी वे किसी न किसी रूप में मिले हुए हैं, एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। अत: कहा जा सकता है कि दोनों को मिलाने वाला कोई तीसरा है, और वह है–मन। अत: आत्मा की

सत्ता है। पं० राहुल सांकृत्यायन का मानना है कि मन से परे आत्मा नाम की कोई चीज नहीं है, अर्थात् मन ही आत्मा है।[13] इस प्रकार बुद्ध ने आत्मा की व्यवहारिक सत्ता को स्वीकार किया है जो **रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, तथा विज्ञान** आदि पंचस्कंधों का समुदायमात्र है। इन्हीं पंच स्कंधों को हम आत्मा के नाम से पुकारते हैं। **रूप** के अन्तर्गत पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच विज्ञप्ति और इनसे संबंधित विषय आते हैं। **वेदना**—सुख-दु:ख एवं उदासीन भाव वेदना के अन्तर्गत आते हैं। दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि प्रिय वस्तु के संसर्ग से सुख तथा अप्रिय वस्तु के संसर्ग से दु:ख आदि की प्राप्ति से चित्त की जो विशेष अवस्था होती है, वही वेदना है। **संज्ञा**—किसी वस्तु के विषय में जो निश्चित ज्ञान होता है और उसके गुणों के आधार पर हम उसका नामकरण करते हैं, वही सज्ञा है। **संस्कार**—इसके अन्तर्गत मानसिक शक्तियाँ आती हैं जो रूप, वेदना और संज्ञा के बीच सामंजस्य उत्पन्न करती हैं। **विज्ञान**—इस स्कंध में बाह्य एवं आभ्यंतर अर्थात् बाह्य वस्तुओं का ज्ञान तथा 'अहं' का ज्ञान, दोनों का समावेश होता है।

उपर्युक्त पाँच स्कंधों के संघात् के कारण ही मनुष्य या आत्मा का बोध होता है। संघात् रूपी आत्मा के विषय में भदन्त नागसेन ने राजा मिलिन्द को रथ का उदाहरण देकर बहुत ही सुगमता से समझाया है, जो इस प्रकार है— राजा मिलिन्द ने भदन्त नागसेन से पूछा कि आपके ब्रह्मचारी आपको नागसेन नाम से पुकारते हैं, तो यह नागसेन क्या है? क्या ये केश नागसेन है? क्या रोयें नागसेन है? इसी तरह तमाम सवाल राजा मिलिन्द ने नागसेन से किये जिसके जवाब में नागसेन ने संघातवाद को सामने रखते हुए राजा से पूछा— राजन् क्या आप पैदल चलकर आयें हैं या रथ पर सवार होकर? राजा ने उत्तर दिया — भन्ते मैं पैदल नहीं रथ पर आया हूँ। तब भदन्त नागसेन ने पूछा— रथ क्या है? क्या धुरी रथ है? क्या चक्के रथ हैं? क्या रस्सी, चाबुक आदि रथ है? सभी का जवाब राजा ने नकारात्मक रूप में दिया। तब नागसेन ने कहा कि राजन् जिस प्रकार चक्का, धुरी आदि अलग-अलग रूप में रथ नहीं हैं बल्कि सभी का समन्वित रूप रथ है उसी प्रकार न तो रूप आत्मा है, न वेदना आदि ही, बल्कि पंचस्कंधों का संघात् ही आत्मा है।[14] इसी तरह मेरे केश इत्यादि के आधार पर केवल व्यवहार के लिए 'नागसेन' ऐसा एक नाम कहा जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्धों ने आत्मा की व्यवहारिक सत्ता को स्वीकार किया है।

अब प्रश्न उठता है कि क्या बौद्धों ने आत्मा को नित्य माना है या अनित्य ? बौद्ध मत के अनुसार यह तो सत्य है कि आत्मा अनित्य है, क्योंकि वे क्षणिकवाद में विश्वास रखते हैं। क्षणिकवाद की यह मान्यता है कि प्रत्येक वस्तु क्षण-क्षण बदल रही है। अतः मन, जीव आदि भी प्रतिक्षण बदलते रहते हैं। परन्तु बौद्धों ने संतति प्रक्रिया को नित्य माना है। संतति प्रक्रिया अर्थात कार्य-कारण की प्रक्रिया। उनका कहना है कि मन क्षणिक है पर, परवर्ती मन का कारण भी है। जिस प्रकार माता-पिता की बहुत सी बातें पुत्र-पौत्रों में आती हैं उसी प्रकार पूर्व मन अपने अनुभवों का बीज या संस्कार अगले मन के लिए छोड़ जाता है।

दूसरा प्रश्न यह है कि बौद्ध मतानुसार आत्मा कर्त्ता-भोक्ता है या नहीं। यदि हम संतति प्रक्रिया की दृष्टि से देखें तो जीव या आत्मा कर्त्ता एवं भोक्ता दोनों है क्योंकि एक नाम रूप से दूसरे नाम रूप की उत्पत्ति होती है। संयुक्त निकाय में कहा गया है कि पूर्व-कालीन नाम रूप से उत्तरकालीन नाम रूप की उत्पत्ति हुई। अतः दूसरा जो पहले से उत्पन्न हुआ, पहले नाम रूप के किये कर्मों को भोगता है।[15] परन्तु धम्मपद में कुछ और ही कहा गया है जिससे यह प्रतीत होता है कि कर्त्ता और भोक्ता एक ही जीव है। कहा गया है – पाप करने वाले को ही उसका फल भोगना पड़ता है।[16] इस संसार में कोई भी ऐसा स्थान नहीं जहाँ चले जाने से मनुष्य फल से बच जाये।[17] जो पाप है उसे आत्मा ने किया है, वह आत्मा से ही उत्पन्न है।[18] यद्यपि धम्मपद की ये उक्तियाँ शाश्वत आत्मा की ओर इंगित करती हैं परन्तु जहाँ तक मैं समझता हूं ये उक्तियां सन्तान रूप को ही मान्यता देने वाली हैं।

तुलना :

जहाँ तक आत्मा की सत्ता का प्रश्न है तो जैन एवं बौद्ध, दोनों दर्शनों ने आत्मा की व्यवहारिक सत्ता को स्वीकार किया है। परन्तु जहां एक ओर जैनदर्शन ने आत्मा को स्वतंत्र एवं शरीर परिमाण माना है वहीं दूसरी ओर बौद्धों ने आत्मा को शरीर से अभिन्न माना है। जैन मतानुसार आत्मा नित्यानित्य कर्त्ता और भोक्ता है जबकि बौद्ध मतानुसार आत्मा अनित्य है, परन्तु, यदि हम संतति-प्रक्रिया की दृष्टि से देखें तो पायेंगे कि आत्मा नित्य भी है क्योंकि बौद्धों ने संतति प्रक्रिया को नित्य स्वीकार किया है। अतः जब प्रक्रिया नित्य है तो फिर प्रक्रिया से उत्पन्न कार्य भी नित्य होना चाहिए। साथ ही बौद्ध-मत द्वारा स्वीकार की गयी आत्मा 'कर्त्ता' भी है और 'भोक्ता' भी है, जैसा कि हमने उपर्युक्त विवेचन में देखा है कि एक 'नाम रूप' से

दूसरे 'नाम रूप' की उत्पत्ति होती है जो पहले 'नाम रूप' द्वारा किये कर्मों को भोगता है।

परन्तु, जहां तक बौद्धों द्वारा आत्मा की सत्ता को स्वीकार करने की बात है तो यह कहा जा सकता है कि बौद्धों ने किसी न किसी रूप में आत्मा की सत्ता को स्वीकार किया है, भले ही वह व्यवहारिक क्यों न हो। यदि कोई यह कहता है कि 'यह व्यक्ति राम है' तथा दूसरा व्यक्ति यह कहता है कि – नहीं, यह व्यक्ति राम नहीं बल्कि 'यह मोहन का पुत्र राम है' तो दोनों में क्या फर्क पड़ता है। हाँ! इतना है कि दोनों के अभिव्यक्त करने की शैली अलग-अलग है परन्तु जिसे अभिव्यक्त किया जा रहा है, वह तो एक ही है। ठीक यही बात बौद्धों द्वारा मान्य 'आत्मा' के लिए भी लागू होती है, क्योंकि वे भी आत्मा को सीधे तौर पर न मानकर 'सन्तान' रूप में स्वीकार करते हैं।

पाद टिप्पणी :

१. उपयोगो जीवलक्षणम्–तत्वार्थ सूत्र, अ०–२

२. पाणं अप्पं हि मदं वट्टदि णाणं ण अप्पाणं
यम्हा णाणं अप्पा णाणं व अण्णं वा ।। २४ ।। – प्रवचनसार

३. उवओग एव अहमिक्को–समयसार, उद्धृत – सूक्ति त्रिवेणी

४. जीवा सिय सासया, सिय असासया।
·····दव्वट्ठयाय सासया, भावट्ठयाए असासया ।। भगवती सूत्र, ७/१

५. चार गतियाँ – नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव।

६. प्रमाता प्रत्यक्षादि प्रसिद्ध आत्मा।
चैतन्यस्वरूपः परिणामी कर्त्ता साक्षाद्भोक्ता।
स्वदेहपरिणामः प्रतिक्षेत्रंभिन्नः पौद्गलिकादृष्टवांश्चायम्।
प्रमाणनयतत्वालोक, ७.५५-५६

जीवो ति हवदि चेदा उवओग विसेदियो पहूकता।
भोक्ता य देहमत्तो पहि मुक्तो कम्मसंजुतो ।। २७ ।।–पंचास्तिकाय

७. यहाँ जैन दार्शनिक पाश्चात्य दार्शनिक देकार्त के करीब दिखाई देते हैं क्योंकि देकार्त ने भी संशय द्वारा आत्मा की सत्ता को स्वीकार किया है।

८. विशेषावश्यक भाष्य, १५५७

९. जैन धर्म दर्शन–डा० मोहन लाल मेहता, पृ० १७१

१०. मज्झिम निकाय–१/१/२ ११. चुलसच्चकसुत्त, म० नि०–१/४/५

१२. यः पश्यात्यात्मानं तस्याहमिति शाश्वतः स्नेहः।
स्नेहात् गुणेषु तृष्यति दोषांस्तिरस्कुरुते ।।

(शेष पृष्ठ २४ पर)

जैन पुराणों में लोक संबंधी अवधारणा

—डा० सुनीता कुमारी

पुराणों का भारतीय वाङ्मय में विशिष्ट स्थान है। पारम्परिक वैदिक परम्परा में प्रचलित संस्कृत पुराणों के अतिरिक्त जैन-परम्परा में भी पुराणों की रचना हुई है, विद्वानों की मान्यता है कि जैन-पुराणों का प्रणयन गुप्तोत्तर काल में हुआ है, किन्तु विषय वस्तु एवं विचारधारा की दृष्टि से ये चिर-पुरातन कहे जा सकते हैं। जैन-विद्या के ये विश्वकोश हैं। जैनों की संस्कृति एवं सभ्यता का कोई ऐसा अंश नहीं है जो इन पुराणों में उल्लिखित न हो। ये प्राचीन जैन संस्कृति के सक्षम वाहक हैं। इनमें सृष्टि आदि विषयों के सम्बन्ध में विपुल सामग्री मिलती है। लोक और सृष्टि ये दो ऐसे शब्द हैं जो अन्योन्याश्रित हैं। जब सृष्टि पर विचार किया जाता है तब लोक पर प्रकाश डालना ही पड़ता है एवं जब लोक सम्बन्धी मान्यता पर चिन्तन प्रारम्भ किया जाता है तो अनायास ही सृष्टि के सम्बन्ध में जिज्ञासा होने लगती है। प्रस्तुत निबन्ध में जैन-पुराणों में प्रतिपादित लोक सम्बन्धी मान्यता पर विचार किया गया है।

जैन-परम्परा में लोक को एक अनादि तत्व माना है जो षड्द्रव्यों से मिलकर बना है। ये षड्द्रव्य हैं – जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जैनाचार्यों ने इन षड्द्रव्यों पर गहन चिन्तन किया है, किन्तु हम अपने इस निबन्ध में इन षड्द्रव्यों पर प्रकाश न डालकर उनसे निर्मित इस लोक के स्वरूप पर विचार करेंगे। जैनों ने इस लोक के लिए विश्व, जगत, भुवन, ब्रह्माण्ड आदि शब्दों का उपयोग किया है।

(पृष्ठ २३ का शेष)

गुणदर्षी परितृष्यन् ममेति तत्साधनमुपादन्ते।
तेनात्माभिनिवेशों यावत् तावत्तु संसारः॥
आत्मनि सति पर संज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ।
अनयोः संप्रतिबन्धात् सर्वे दोषाः प्रजायन्ते॥

बोधिचर्यावतार पंजिका, पृ० ४१२

१३. राहुल सांकृत्यायन – बौद्ध दर्शन, पृ० ४
१४. मिलिन्द प्रश्न (हिन्दी अनुवाद), पृ० ३१-३४
१५. संयुक्त निकाय, १२, १६, १२-२४ १६. धम्मपद, ६६
१७. वही, १२७ १८. वही, १६१ ★

जैन-पुराणों में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को दो भागों में बाँटा गया है–१. लोकाकाश और २. अलोकाकाश। हरिवंश पुराण में अलोकाकाश के विषय में कहा गया है जो सब ओर से अनंत विस्तार, अनंत प्रदेश तथा अन्य द्रव्यों से रहित हो, वही अलोकाकाश है। इस अलोकाकाश में जीव एवं अजीव आदि पदार्थ नहीं दिखाई पड़ते हैं। गति एवं अगति (स्थिति) के निमित्त धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय का अभाव होने से अलोकाकाश में जीव तथा पुद्गल की न तो गति होती है और न स्थिति।[1]

जिस लोक में हम रहते हैं तथा अन्य प्राणी, पादप, जीव, अजीव आदि रहते हैं वही लोकाकाश है। जैन पुराणकारों के अनुसार यह लोकाकाश अनंत अलोकाकाश के मध्य में स्थित है। यह लोक अकृत्रिम, अनादि, प्रकाशमान् एवं अनंत है तथा यहाँ बन्ध और मोक्ष का फल भोगा जाता है तथा इस लोक से जो बहिर्गत है वह अलोक है।[2] 'हरिवंशपुराण', के अनुसार इस लोक का निर्माण काल द्रव्य और अपने (लोक) अवान्तर विस्तार सहित अन्य समस्त पंचास्तिकाय (धर्म, अधर्म, आकाश, जीव तथा पुद्गल) से हुआ है।[3] जैन-पुराणों में लोक को तीन भागों में विभक्त किया गया है—१. अधोलोक, २. मध्यलोक और ३. उर्ध्वलोक। ये तीनों लोक इस क्रम से अवस्थित हैं कि आकार में ये मृदंग या झल्लरी के समान जान पड़ते हैं।[4]

कभी-कभी लोक को त्रिलोक के नाम से भी जाना जाता है। इस संबंध में जैनाचार्यों का कहना है कि तीन प्रकार से स्थित होने के कारण ही इसे त्रिलोक के नाम से भी जाना जाता है।[5] तीनों लोकों के आकारगत विश्लेषण हेतु हरिवंश-पुराण का यह उद्धरण अत्यंत महत्वपूर्ण जान पड़ता है। इसमें कहा गया है कि अधोलोक मूँठा के समान, उर्ध्वलोक मृदंग के समान और मध्यलोक झालर के सदृश्य है। नीचे अर्द्धमृदंग रखकर यदि उस पर पूरा मृदंग रखा जाए और इस प्रकार जो आकार प्राप्त होगा वैसा ही लोक का आकार है। किन्तु लोक की एक विशेषता यह है कि यह चौकोर है अर्थात् कमर पर हाथ रखकर तथा पैर फैलाकर अचल खड़े हुए मनुष्य का जो आकार निर्मित होता है, उसी आकृति को यह लोक ग्रहण करता है।[6] अब आगे प्रत्येक लोक के संबंध में कुछ प्रकाश डाला जाएगा।

(१) अधोलोक—

लोक का निम्नतम भाग अधोलोक के नाम से जाना जाता है। इसे नरक भूमि भी कहा जाता है। हरिवंश पुराण में कहा गया है कि धरतीतल में प्रथम

रज्जु के अंत में जहाँ पृथ्वी समाप्त हो जाती है, वहीं से अधोलोक प्रारम्भ होता है।[7] यह अधोलोक सात भागों में बँटा है। इनके नाम इस प्रकार हैं— १. रत्नप्रभा, २. शर्कराप्रभा, ३. बालुकाप्रभा, ४. पङ्कप्रभा, ५. धूमप्रभा ६. तम:प्रभा और ७. महातम:प्रभा।[8] इन्हें भूमि भी कहा जाता है। ये सप्तभूमियाँ घोर कष्टदायक तथा निरंतर अंधकार से व्याप्त रहती है। पापकर्म करने से जीव को इन कष्टदायक भूमियों में उत्पन्न होना पड़ता है और यहाँ का दारुण दु:ख का भोग करना पड़ता है। इन नरकभूमियों में अगणित प्रकार के दु:ख पाये जाते हैं और इन सबका वर्णन करना शक्य नहीं है। महापुराण में कहा गया है कि प्रत्येक नरक भूमि दु:खों से परिपूर्ण है, लेकिन दु:ख की प्रचुरता क्रमश: बढ़ती जाती है और अंतिम भूमि जो रौरव नरक के नाम से जानी जाती है में दु:ख और कष्ट अपनी चरमसीमा पर होती है।[9] जैनपुराणों में वर्णित सप्त नरक भूमियों का वर्णन निम्नलिखित प्रकार से किया गया है।[10]

१. **रत्नप्रभा**—हमारी पृथ्वी की तीन सतहें हैं। प्रथम ठोस सतह (खरभाग) पर हमलोग निवास करते हैं। दूसरी सतह पंक बहुल है तथा तीसरी सतह जल बहुल है। इस पृथ्वी में नाना प्रकार के रत्न, धातु आदि पाए जाते हैं। इसीलिए इसे रत्नप्रभा कहते हैं। यह नरक भूमि है अत: नरक में रहने वाले जीव को नारकी कहते हैं। जिस प्रकार पृथ्वी पर हम घर बनाकर रहते हैं ठीक उसी तरह नरक भूमि में भी नारकियों के रहने के लिए बिल (बिबर, गड्ढे आदि) बने रहते हैं।

इस नरक भूमि में तीस लाख बिल हैं। इन बिलों में नारकी जीव अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं। नारकी नाना रूप धारण करके एक दूसरे को दु:ख देते हैं। इसके अतिरिक्त असुरजातीय भवनवासी देवता भी इनमें कलह उत्पन्न करके इन्हें दु:खित करते हैं। नरकों में दु:ख का कारण अति-प्रचण्ड शीत, ताप, बध, बंधन, दुर्गन्ध, भय आदि वेदनाएँ हैं। यहाँ पर किसी प्रकार का सुख नहीं है। समस्त नारकी नपुंसक होते हैं अत: यहां काम सुख भी उपलब्ध नहीं होता है।[11]

२. **शर्कराप्रभा**—बिलों की कुल संख्या १५ लाख मानी गई है। यहाँ दु:ख का कारण अत्यधिक उष्णता को माना गया है।

३. **बालुकाप्रभा**—इस नरकभूमि में बिलों की संख्या २५ लाख मानी गई है। यहाँ महादु:ख का कारण भयंकर ताप को माना गया हैं। इस नरक भूमि की उष्णता की भयंकरता के बारे में जैनाचार्यों का कहना है कि इसमें सुमेरु पर्वत जितना लौह पिण्ड क्षण भर में ही गलाया जा सकता है।

४. पंकप्रभा—यह पूर्व में ही बताया जा चुका है कि नरकभूमि में दुःख का कारण शीत और उष्ण दोनों है। पंकप्रभा में दुःख का कारण शीत को माना गया है। क्योंकि यह शीत प्रधान भूमि है। यहाँ बिलों की कुल संख्या १० लाख मानी गई है।

५. धूमप्रभा—शीत एवं धूम से पूरित यह नरकभूमि अत्यंत दुःखदायी है। यहाँ बिलों की कुल संख्या तीन लाख है।

६. तमःप्रभा—शीत एवं अंधकार से युक्त नरकभूमि। बिलों की कुल संख्या एक लाख मानी गई है।

७. महातमःप्रभा—घोर शीत एवं महान अंधकार से पूरित महादुःखों से युक्त यह अंतिम नरकभूमि है। यहाँ पर मानसिक एवं दैहिक दुःख अपनी चरम पराकाष्ठा को प्राप्त किए हुए रहता है।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि अधोलोक की सातों भूमियाँ दुःखों से परिपूर्ण हैं। अतः ऐसा विश्वास किया जाता है कि यहाँ पर पापी प्राणियों को उनके द्वारा किए गए दुष्कृत्यों के लिए दण्ड मिलता है।

(२) मध्यलोक—

मनुष्य, तिर्यंचादि का निवास स्थान मध्यलोक में ही स्थित है। जैन मान्यता के अनुसार मध्यलोक में ही हमारी पृथ्वी स्थित है। इसके मध्य में सुमेरु नाम का पर्वत है। इस मध्यलोक में बहुत से समुद्र और द्वीप विद्यमान है। इन सबके मध्य में लवण समुद्र से आवृत जम्बूद्वीप है। जम्बूद्वीप के मध्य में मेरुपर्वत है। इसके अन्तर्गत सात क्षेत्र आते हैं—भरत, हैमवत, हरिवर्ष, विदेह, रम्यक, हैरण्यक, ऐरावत।[12] इनमें से भरत क्षेत्र अथवा भारत वर्ष में हम निवास करते हैं। मध्यलोक दो भागों में बँटा हुआ है—(क) मनुष्यलोक और (ख) तिर्यक्लोक।

(क) मनुष्यलोक—मध्यलोक के मध्य अर्थात् केन्द्र में ४५ लाख योजन विस्तार वाला अतिगोल क्षेत्र मनुष्यलोक कहलाता है।[13] मनुष्यलोक के बीचोंबीच जम्बूद्वीप है। इस द्वीप का विस्तार एक लाख योजन है। इस जम्बूद्वीप के अंतर्गत भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत तथा ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं।[14]

(ख) तिर्यक्लोक—तिर्यग्योनिजों का आवास क्षेत्र तिर्यक्लोक कहलाता है। स्थावर एवं त्रस के भेद से यह दो प्रकार का है। स्थावर तिर्यक् जीव सम्पूर्ण लोक में पाए जाते हैं, परंतु त्रस तिर्यक् जीव मध्य लोक में ही पाए जाते हैं।

यही कारण है कि कभी-कभी संपूर्ण लोक को स्थावर लोक भी कहा जाता है तथा मध्यलोक को तिर्यक्-त्रस-लोक।

(३) **उर्ध्वलोक**—

इस लोक में देवतागण निवास करते हैं। जैन पुराणों के अनुसार मेरु पर्वत की चूलिका के साथ ही उर्ध्वलोक प्रारम्भ हो जाता है। उर्ध्वलोक को कई भागों में बाँटा गया है क्योंकि जैनों के अनुसार उनके देवगण की कई कोटियाँ हैं। प्रत्येक कोटि के देव अलग लोक में निवास करते हैं। स्थूल रूप से उर्ध्व-लोक दो भागों में बाँटा गया है—१. सिद्धलोक और २. देवलोक। सिद्धलोक में मुक्तात्माएँ रहती हैं तथा देवलोक में देवतागण।

१. **सिद्धलोक**—जैनों के अनुसार समग्र लोक के शिखर भाग में सिद्धलोक है। इसमें सिद्धपुरुष निवास करते हैं। जैनों के सिद्ध पुरुष मुक्तात्माएं हैं। ये मुक्ता-त्माएँ सभीप्रकार के कर्मावरणों तथा शरीरादि से पूर्णतः रहित होती हैं। जैन परम्परा में अष्ट कर्म प्रकृतियों का उल्लेख किया गया है। जीव इन्हीं के कारण बंधन में पड़ता है। सिद्ध की अवस्था में आत्मा या जीव इन अष्ट कर्म प्रकृतियों को पूरी तरह क्षीण करके अनंत चतुष्टय रूप को प्राप्त कर लेती हैं। अनंत चतुष्टय से तात्पर्य अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख और अनत वीर्य से है। शुद्धावस्था में प्रत्येक आत्मा इस अनंत चतुष्टय से युक्त रहती है। जब आत्मा सिद्धावस्था में आ जाती है तो वह पुनः पुनर्जन्म के बन्धन में नही पड़ती है।[15]

२. **देवलोक**—जैन परंपरा में समस्त जीव को चार कोटियों में बाँटा गया है—नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव। जिस प्रकार सभी जीवों का निवास स्थान इस लोक में नियत है ठीक उसी तरह देवताओं का भी निवास स्थान इस लोक में नियत है। देवतागण जिस लोक में रहते हैं वह देवलोक कहलाता है। जैनों ने देवताओं के चार प्रकार माने हैं—(क) भवनवासी (ख) व्यन्तरवासी (ग) ज्योतिर्वासी और (घ) विमानवासी। जैसा कि हम देखरहे हैं प्रत्येक देवता के अन्त में 'वासी' शब्द लगा हुआ है और वासी का अर्थ होता है निवासी। जैसे भवनवासी का अर्थ हुआ भवन का निवासी, तात्पर्य यह है कि भवन में निवास करने वाला। अतः यह स्पष्ट हो गया कि देवलोक चार भागों में बँटा है और प्रत्येक भाग में एक-एक प्रकार के देवतागण निवास करते हैं।

(क) **भवनवासी**—यह देवलोक उर्ध्वलोक में स्थित न होकर मध्यलोक (पृथ्वी) के अधोभाग में स्थित है। जैनों के अनुसार इस पृथ्वीतल में अत्यंत विशाल

एवं वैभव संपन्न अनेक भवन हैं। इन भवनों में अनेक प्रकार के देवतागण निवास करते हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं–असुर, नाग, विद्युत, सुपर्ण, अग्नि वायु, स्तनित, उदधि, द्विक तथा द्वीपकुमार।[16] ये भवनवासी देवतागण अत्यंत वैभवशाली एवं ऐश्वर्यपूर्ण जीवन जीते हैं। विष्णु पुराण में इसके ऐश्वर्य का गुणगान करते हुए कहा गया है कि ये भूतल स्वर्ग से भी अधिक रमणीय एवं सम्पन्न हैं।[17] जैनों के इन भवनवासी देवताओं की तुलना वैदिक पुराणों में उद्धृत पाताल लोकों में रहने वाले दैत्य, दानव, यक्ष, नाग आदि से की जा सकती है।

(ख) **व्यन्तरवासी**–उपर्युक्त भवनों के अतिरिक्त समुद्रस्थ भवनपुरों तथा पर्वतस्थित आवासों में निवास करने वाले देवगण को व्यन्तरदेव कहा जाता है। ये आठ प्रकार के हैं[18]–किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत एवं पिशाच। जैनों के इन व्यन्तर देवताओं की तुलना पुराणों के अंतरिक्ष-चारी गन्धर्व, अप्सरा, भूत, पिशाच, नाग, अश्विनी, मरुदगण आदि अनिकेत देवताओं से की जा सकती है।[19]

(ग) **ज्योतिर्वासी**–पृथ्वी के मध्य में स्थित सुमेरु पर्वत से ऊपर आकाश में रहने वाले देवता ज्योतिषदेव कहलाते हैं। सूर्य, चन्द्र, तारा, ग्रह तथा प्रकीर्णक के भेद से इनके पाँच प्रकार हैं।[20] जैनों के इन ज्योतिष देवगणों की तुलना पुराणों के स्वर्लोक निवासी आदित्य, ऋभु, विश्वेदेवा, साध्यगण, ऋषिगण, पितृगण तथा अंगिरस देवताओं से की जा सकती है।[21] जैनों को ऐसा विश्वास है कि दिवस-रात्रि आदि के रूप में जो काल विभाग होता है उसका मुख्य कारण ये देवगण ही हैं।

(घ) **विमानवासी**–वैमानिक देवताओं के निवास क्षेत्र को जैनाचार्यों ने दो भागों में बाँटा है– १. कल्प-विमान और २. कल्पातीत विमान। ज्योतिर्लोक के ऊपर कल्प और कल्पों के ऊपर भी कल्पातीत विमान है। ये विमान न तो किसी के द्वारा बनाए गए हैं और न कभी नष्ट ही होंगे।

१. **कल्प–विमान**–कल्प नामक विमानों में रहने वाले देवता कल्पवासी कहे जाते हैं। जैन ग्रंथों में कल्पों की कुल संख्या १६ मानी गई है[22] – सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, शगर, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण, अच्युत।

२. **कल्पातीत**–१६ कल्पों से ऊपर किन्तु सिद्धलोक से नीचे लोकाकाश में कल्पातीत विमान है। उनमें से पाँच विमान अनुत्तर, नव विमान अनुदिश तथा

नव विमान ग्रैवेयक के नाम से प्रसिद्ध है। [23] ये सभी विमान अकृत्रिम अर्थात् किसी के द्वारा निर्मित नहीं हैं। यहाँ निवास करने वाले देवताओं की काम-वासना शून्य एवं ज्ञानवैराग्य की प्रधानता रहती है। [24]

कल्प और कल्पातीत विमानों में रहने वाले देवताओं की तुलना वैदिक पुराणों में वर्णित महर्लोक [25] एवं जनलोक निवासी कल्पवासी तथा तपोलोक-वासी वैराग्यप्रधान वैराज [26] नामक देवताओं से की जा सकती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनों की यह लोक संबंधी मान्यता अत्यंत महत्वपूर्ण है तथा इस पर अगर हम चिन्तन करें तो हमारे समक्ष जैनों की आस्तिक मनोवृत्ति भी स्पष्ट हो जाती है। प्राय: ऐसा सोचा जाता है कि जैन आस्तिक न होकर नास्तिक है। लेकिन लोक संबंधी यह विवेचन इस तथ्य को गलत साबित करता है और संभवतया इसीलिए महापुराण में यह कहा गया है कि "जैनी आस्तिक होते हैं। परलोक के बिगड़ने के भय से वे धार्मिक क्रियाएँ सम्पादित करते हैं। ऐसी मान्यता है कि उत्तम कर्म करने से स्वर्ग (उर्ध्वलोक) की उपलब्धि होती है।" [27] वैसे भारतीय दर्शन की परम्परा में लोक-परलोक में विश्वास करने वाले को भी आस्तिक कहा जाता है और इस रूप में जैनी आस्तिक हैं क्योंकि वे लोक-परलोक दोनों में ही विश्वास करते हैं।

सन्दर्भ :—

१. हरिवंश पुराण, ४/१-३
२. पद्म, १०५/१०९, हरिवंश, २/११०, ६३/८८
३. कालः पञ्चास्तिकायाश्च सप्रपञ्चा इहाखिलाः। —हरिवंश, ४/५
४. महापुराण, ४/४१, पद्म, १४/१४९
५. पद्म, १०५/११०-१११
६. हरिवंश, ४/५-११
७. वही, ४/१२-१७
८. पद्म, १०५/११०-१११
९. महापुराण, ६७/३७९
१०. हरिवंश, ४, तत्त्वार्थसूत्र, ३/१-६
११. नारकसंमूर्च्छिनो नपुंसकानि। —तत्त्वार्थसूत्र, २/५०
१२. महापुराण, ४/४८-५९, ६२/१६-१७, ६२/१९१-१९२
१३. अइवट्टो मणुवजगो जोयण·····। —तिलोयपण्णति, ४/६

(शेष पृष्ठ ३१ पर)

गुजरात में आचार्य कुन्दकुन्द की प्राचीन पाण्डुलिपियाँ

—डा० ऋषभ चन्द्र जैन 'फौजदार'

प्राकृत के आर्ष ग्रन्थ जैन परंपरा की सांस्कृतिक धरोहर हैं। उनका संरक्षण हमारा दायित्व है। प्राकृत के यही ग्रन्थ श्रुत या आगम माने जाते हैं। महावीर निर्वाण के बाद कई शताब्दियों तक श्रुत की परंपरा मौखिक रूप से सुरक्षित रही। जब उसे स्मृति से सुरक्षित रखना संभव नहीं रहा, तब आचार्यों ने उसे लिपिबद्ध करना आरंभ किया। लिपिबद्ध श्रुत का इतिहास लगभग दो हजार वर्ष पुराना है। दो सहस्राब्दियों की इस लम्बी यात्रा में उक्त आगम ग्रंथ बहुत प्रभावित हुए हैं। लिपिबद्ध ग्रन्थों पर देश तथा काल का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। इस कारण उनमें परिवर्तन के साथ-साथ परिवर्द्धन भी होता रहा। ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ पेशेवर लेखकों—प्रतिलिपिकारों द्वारा करायी गयीं। ये लिपिकार प्रायः भाषा एवं विषय के ज्ञाता नहीं थे। वे मात्र लिपि जानते थे तथा अजीविका के लिए लेखन कार्य करते थे। वे शास्त्रों की परंपरा से अपरिचित थे। उनसे प्रतिलिपि में त्रुटि होना असंभव नहीं है। इसके बाद भी हम उनके ऋणी हैं क्योंकि उन्होंने शास्त्र परंपरा को सुरक्षित किया है।

(पृष्ठ ३० का शेष)

१४. भरतहैमवर्त-हरि-विदेह-रम्यक-हैरण्यवतैरावत-वर्षाः क्षेत्राणि।
—तत्त्वार्थसूत्र, ३/१०

१५. गोम्मटसार (जीवकांड), ६८ १६. तत्त्वार्थसूत्र, ४/१०

१७. स्वर्लोकादपि रम्याणि पातालानि ..... । —विष्णुपुराण, २/५/५

१८. व्यन्तराः किन्नर-किंपुरुष-महोरग-गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-भूत-पिशाचः।
—तत्त्वार्थसूत्र, ४/११

१९. वायुपुराण, १०१/२८-२९

२०. ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रह-नक्षत्र-प्रकीर्णक-तारकाश्च।
—तत्त्वार्थसूत्र, ४/१२-१५

२१. आदित्या ऋभवो विश्वे साध्याश्च पितरस्तथा।
ऋषयोऽङ्गिरसश्चैव भुवर्लोक-समाश्रिताः ।। —वायुपुराण, १०१/३०

२२. तिलोयपण्णत्ति, ८/१२७-२८ २३. वही, ८/११७

२४. परेऽप्रवीचाराः। —तत्त्वार्थसूत्र, ४/९

२५. महर्लोकश्चतुर्थस्तु तस्मिंस्ते कल्पवासिनः। —वायुपुराण, १०१/३३

२६. ... वैराज्यास्ते तपोधनाः। —विष्णुपुराण, २/७/१४

२७. महापुराण, ५४/२६२

आचार्य कुन्दकुन्द के प्राकृत ग्रन्थ जैन परम्परा के इतिहास की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं। उनके काल के विषय में विचार भिन्नता है, किन्तु वैशिष्टय के सम्बन्ध में कहीं नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द ने प्राचीन आगमों की विलुप्त परंपरा के अनेक विषयों को अपने ग्रन्थों में सुरक्षित किया है, इसलिए उनके ग्रन्थ पारंपरिक श्रुत की श्रेणी में रखे जाते हैं। तीर्थंकर महावीर के बाद कुन्दकुन्द ही ऐसे समर्थ आचार्य हैं जिन्होंने अध्यात्म की परंपरा को सुरक्षा प्रदान की तथा विकसित किया।

बीसवीं सदी के आरंभ में कुन्दकुन्द के ग्रन्थों का मुद्रण आरंभ हुआ। सर्वप्रथम उनका "पंचत्थियसंगहसुत्तं" इटली से मुद्रित हुआ। इसके पूर्व डा० रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर ने अपनी रिपोर्ट १८८३-८४ में प्रवचनसार की कुछ गाथाओं के उद्धरण दिये थे। अब तक कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के सैकड़ों संस्करण प्रकाशित हुए हैं, किन्तु यह चिन्ता का विषय है कि उनमें से किसी में भी प्राचीन पाण्डुलिपियों का अपेक्षित उपयोग नहीं हुआ। अधिकांश संस्करण प्रायः एक-दूसरे के पुनर्मुद्रण हैं या एक पाण्डुलिपि पर आधारित हैं। प्रत्येक संस्करण में अनेक स्थल ऐसे हैं, जहां विचार करने की आश्वयकता है। यह बात ग्रन्थों की प्राचीन पाण्डुलिपियां देखने से स्पष्ट हो जाती है।

कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की हजारों प्राचीन पाण्डुलिपियां देश-विदेश के शास्त्र भंडारों में सुरक्षित हैं। उनकी लिपि देवनागरी तथा कन्नड है। अभी तक उनके सर्वेक्षण के व्यापक प्रयत्न नहीं हुए अतः वे अज्ञात ही हैं। सर्वेक्षण की दिशा में विशेष प्रयत्न अपेक्षित है। समाज का ध्यान भी इस ओर जाना चाहिए। कतिपय शास्त्र भंडारों की सूचियां प्रकाशित हुई हैं, किन्तु वे दाल में नमक बराबर हैं। सर्वेक्षण, सूचीकरण और उनके प्रकाशन हेतु सम्बद्ध संस्थानों को आगे आना चाहिए जिससे इस अमूल्य सम्पदा को सुरक्षित किया जा सके तथा अनुसन्धाताओं और विद्वानों के लिए सुलभ कराया जा सके।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, के प्राकृत एवं जैनागम विभाग में प्रोफेसर गोकुलचन्द्र जैन तथा विभाग के प्रायः एक दशक के प्रयत्न से आचार्य कुन्दकुन्द विषयक उच्चतर अध्ययन-अनुसन्धान की अनेक योजनाएँ विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने स्वीकृत की है। इनमें डा० कमलेशकुमार जैन, डा० महेन्द्रकुमार जैन, डा० श्रीमती सुनीता जैन, सर्वश्री श्रीराम मिश्र प्रभृति युवा विद्वान कार्य कर रहे हैं। विभाग में प्राचीन पाण्डुलिपियों की जीराक्स, माइक्रोफिल्म, फोटो कापी का संग्रह करने की योजना है। इसमें सर्वप्रथम कुन्दकुन्द के ग्रन्थ संकलित किये जा रहे हैं।

विभाग की योजनाओं के क्रम में मैंने वर्ष १९९१ में दो शोध यात्रायें की हैं। एक यात्रा में दिल्ली तथा राजस्थान के शास्त्रभंडारों का सर्वेक्षण किया और दूसरी यात्रा में मध्य प्रदेश के शास्त्र भण्डारों का अवलोकन किया। दोनों यात्राओं में प्राय: शताधं प्राचीन शास्त्र भण्डारों का सर्वेक्षण करके उनसे महत्वपूर्ण पाण्डुलिपियों की जीराक्स प्रतियाँ क्रय कीं। सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक महत्व की अन्य जानकारी भी प्राप्त हुई। इसी क्रम में डा० श्रीमती सुनीता जैन ने कुछ माह पूर्व मालवा के भंडारों का सर्वेक्षण किया है।

फरवरी १९९२ में मैंने तथा डा० महेन्द्रकुमार जैन ने गुजरात, जयपुर तथा दिल्ली की यात्रा की। इस यात्रा में प्राय: पच्चीस प्राचीन शास्त्र भंडारों को प्रत्यक्ष देखने का अवसर मिला। गुजरात में अहमाबाद, कोबा, पाटण, ईडर तथा लीम्बडी के शास्त्र भंडारों का सर्वेक्षण किया। सर्वेक्षण में कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की शताधिक पाण्डुलिपियाँ देखीं। उनमें से विशेष उपयोगी पाण्डुलिपियों की जीराक्स कापियाँ क्रय कर लीं हैं।

सर्वेक्षण यात्रा में पंडित दलसुख भाई मालवणिया, प्रो. एच. सी. भायाणी प्रो. के. आर. चन्द्र, श्री कनुभाई सेठ, पंडित लक्ष्मण भाई, डा० जितेन्द्र भाई शाह, डा० शेखर जैन, डा० शीतलचन्द्र जैन, पंडित भंवरलाल न्यायतीर्थ, पंडित पदमचन्द्र शास्त्री प्रभृति विद्वानों से विचार-विमर्श करने का अवसर मिला। जयपुर में आचार्य कुन्थुसागर जी महाराज एवं उपाध्याय कनकनन्दी जी महाराज से विचार विनिमय का लाभ मिला। दिल्ली में राष्ट्रसन्त आचार्य श्री विद्यानन्द जी महाराज के दर्शन कर उनसे आशीर्वाद प्राप्त किया। आचार्य श्री ने कार्य को आगे बढ़ाने हेतु प्रोत्साहित किया।

अहमदाबाद के एल. डी. इन्स्टीच्यूट आफ इण्डोलॉजी में प्राचीन पाण्डुलिपियों का विशाल संग्रह है। संस्थान ने उनकी सूचियां प्रकाशित की हैं। यहां प्राचीन पाण्डुलिपियों के संग्रह की विभिन्न योजनाएं हैं। संस्थान की सुरक्षा व्यवस्था उत्तम है। पाण्डुलिपियों का उपयोग करने में संस्थान के पाण्डुलिपि प्रमुख श्री कनुभाई सेठ तथा श्री लक्ष्मण भाई का हमें पूरा सहयोग मिला है। संस्थान से प्राचीन पाण्डुलिपियों का सम्पादन एवं प्रकाशन भी होता है। यहां का एल. डी. संग्रहालय भी दर्शनीय है।

अहमदाबाद के ही डहेलानो उपाश्रय में लगभग १८००० प्राचीन हस्तलिखित पाण्डुलिपियां सुरक्षित हैं। रजिस्टर में इनकी सूची बनी हुई है तथा कार्ड तैयार कराकर रखे गये हैं। अनेक लिपिकों द्वारा लिखे जाने के कारण

तथा परम्परा की जानकारी के अभाव में सूची कार्ड काफी अशुद्ध हैं। जिनका सुधार निहायत जरूरी है। इस समृद्ध भण्डार की सूची प्रकाशित होना नितान्त आवश्यक है। इस उपाश्रय के मानद ट्रस्टी श्री गौतमभाई शकरचन्द एवं बर्धीभाई सम्प्रितचन्द्र के विशेष रूप से आभारी हैं, जिनके सहयोग से हम भण्डार का पूरा उपयोग कर सके तथा पाण्डुलिपियों की जीराक्स प्राप्त कर सके। इस भण्डार की सुरक्षा व्यवस्था उत्तम है जिसे देखकर मन प्रसन्न हो गया। अन्य भण्डारों के व्यवस्थापकों को इसे देखना चाहिए और तदनुसार अपने भण्डारों में शास्त्रों का रख-रखाव करना चाहिये।

शारदाबेन चिमनभाई एजूकेशनल रिसर्च सेन्टर अहमदाबाद के निदेशक डा० जितेन्द्र भाई शाह ने हमें संस्थान के क्रिया-कलापों एवं भावी योजनाओं से परिचित कराया। इस संस्थान ने प्राकृत आगमों का कम्प्यूटरीकरण किया है, जो अनुसन्धाताओं के लिए विशेष उपयोगी है। इस समय संस्थान में जैन-विद्या की प्रत्येक विधा पर अब तक प्रकाशित लेखों की सूची बनाने का कार्य चल रहा है। यह कार्य अनुसन्धानप्रिय विद्वानों के लिए अत्यन्त लाभप्रद होगा।

ईडर कर शास्त्र भण्डार गुजरात का एक मात्र प्राचीन दिगम्बर भण्डार है। इसमें प्राचीन शास्त्र प्राय: नहीं बचे हैं। भण्डार को इस स्थिति तक पहुंचाने के लिए पद एवं प्रतिष्ठा प्राप्त तथा संग्रह लोलुपी महानुभाव/विद्वान उत्तरदायी हैं। शास्त्र भण्डार के मंत्री ने बताया कि जहा तक मेरी जानकारी है, जिन व्यक्तियों ने उपयोग हेतु शास्त्र लिये हैं वे हमारे पास लौटकर नहीं आये। यह स्थिति चिन्तनीय है। भण्डार की शेष पाण्डुलिपियां देख-रेख एवं रख-रखाव ठीक न होने के कारण नष्ट हो रही हैं। उक्त शास्त्र भण्डार की यही स्थिति रही तो एक-दो वर्ष में एक भी ग्रन्थ उपयोग करने योग्य नहीं रहेगा। कितनी विचित्र बात है, कि हम मन्दिर में प्रतिदिन देव शास्त्र गुरु की पूजा करते हैं। उसमें विराजमान शास्त्रों की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। हम नित्य स्वाध्याय का दम भरते हैं, उसे तप मानते हैं, स्वाध्याय भवन बनाते हैं, किन्तु शास्त्रों की धूल पोंछना तक उचित नहीं समझते। क्या शास्त्रों के प्रति हमारा यही दायित्व है ?

सर्वेक्षित शास्त्र भंडारों में से ३-४ की सूचियाँ बहुत पहले प्रकाशित हुई थी। अन्य की सूचियाँ वैज्ञानिक पद्धति से बनाकर प्रकाशित करने की आवश्यकता है। लेकिन यह चिन्ता का विषय है कि इस दिशा में कोई प्रयत्न नहीं

(शेष पृष्ठ ३५ पर)

ग्वालियर अंचल की जैन पुरा सम्पदा

—श्री अभय प्रकाश जैन

ग्वालियर उत्तरी मध्य प्रदेश के प्राचीनतम क्षेत्रों में से एक है। ग्वालियर के निकट पवाया नाम के ग्राम को वेदों में पद्मावती नामक ऐतिहासिक नगरी मानने में इतिहासकार एकमत हैं। यहाँ प्राप्त प्राचीन पुरातात्विक सामग्री से यह तथ्य बहुत कुछ पुष्ट होता है। मुरैना जिले में सिहोनिया, दतिया जिले में स्वर्णागिरी, शिवपुरी जिले में नरवर, गुना जिले में चंदेरी, तुमैन और मारकौन, जैगर (बजरंगगढ़) तथा ग्वालियर के अमरौल व दुर्ग आदि स्थल भी प्राचीन ऐतिहासिक महत्व व पुरातात्विक सम्पदा की दृष्टि से सम्पन्न क्षेत्र है। इन सभी क्षेत्रों में जो कुछ भी प्राचीनतम पुरातात्विक अवशेष एवं अन्य सामग्री उपलब्ध हुई है उसका बड़ा भाग जैन संस्कृति से सम्बन्धित है। इस प्रकार ग्वालियर और उसका निकटवर्ती सम्पूर्ण क्षेत्र जैन पुरातत्व की दृष्टि से अत्यधिक सम्पन्न क्षेत्र है तथापि जैन संस्कृति के कुछ प्रमुखतम केन्द्रों के रूप में कुछ क्षेत्रों का ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा ही महत्व है।

(पृष्ठ ३४ का शेष)

हो रहे हैं। इनमें सुरक्षित शास्त्रों को देखना या उनकी जीराक्स आदि प्राप्त करना, असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन और व्यय-साध्य अवश्य है। शास्त्रों को सुरक्षित रखना हम सब का दायित्व है। अनुसन्धाताओं और विद्वानों को उपलब्ध कराना भी हमारा ही कर्त्तव्य है। यदि हम इस शास्त्र सम्पदा को विद्वानों से अलग-थलग रखेंगे तो अनुसन्धान की स्थिति विचारणीय होगी। मेरा शास्त्र भंडारों के संरक्षकों/स्वामियों से विनम्र अनुरोध है कि अपने नियमानुसार शर्तें पूरी कराकर अनुसन्धाता विद्वानो को शास्त्रों की प्रतिलिपि-जीराक्स अवश्य उपलब्ध करायें, अन्यथा इस पुरा सम्पदा की ज्ञान ज्योति तिजोरियों की सीमा में कैद रह जायेगी।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि हम अपनी सांस्कृतिक पुरा सम्पदा के संरक्षण के प्रति निष्क्रिय रहे हैं। इसके लिए जितनी सक्रियता आवश्यक थी, हम उतने सक्रिय नहीं हो पाये। ताम्रपत्रों, काष्ठफलकों, ताड़पत्रों एवं कागज पर लिखित जो प्राचीन समग्री शेष है, उसकी सुरक्षा के प्रति समाज के प्रत्येक व्यक्ति को जागरुक होना चाहिए। इस पुण्य कार्य हेतु संस्थाओं, साधुओं, विद्वानों और श्रेष्ठियों को एक जुट होकर आगे आना चाहिए। ★

इस शोध आलेख में कुछ प्रमुख स्थलों की चर्चा करना लेखक का अभिप्रेत है–

स्वर्ण गिरि—

दतिया स्टेशन से ३ किलोमीटर की दूरी पर स्थित स्वर्णगिरि 'सोनागिरि' धार्मिक दृष्टि से सिद्ध क्षेत्र माना जाता है। जिस ग्राम में यह क्षेत्र स्थित है वह सनावल कहलाता है। जो श्रमणांचल का अपभ्रंश रूप प्रतीत होता है जिसका तात्पर्य श्रमण संस्कृति के प्रमुख अंचल से है जिससे प्रतीत होता है कि यह क्षेत्र श्रमण दिगम्बर जैन साधुओं की प्राचीन तपो भूमि रही है।

वर्तमान में यहाँ एक पहाड़ी पर कुल ७७ मंदिर बने हैं नीचे समतल धरातल पर सोलह भव्य मंदिर बने हुए हैं। इन समस्त मंदिरों में पहाड़ी के शीर्षस्थ स्थान पर बने तीर्थंकर चन्द्र प्रभु का मंदिर विशेष महत्व का है। चन्द्र प्रभु की प्रतिमा यहां की प्राचीनतम एवं इस मन्दिर की मूल नायक प्रतिमा है।

भगवान ऋषभदेव अपने राज्यकाल में सुव्यवस्थित शासन प्रबन्ध हेतु ५२ जनपदों की स्थापना की थी उनमें एक 'चेदि' 'जनपद' भी था। उसी चेदि जनपद की सीमा में दतिया जिला है। चेदि जनपद वर्तमान बुन्देलखण्ड है इसकी सीमा पश्चिम में काली सिंध पूर्व में टोंस नदी थी।

तीर्थंकर चंद्रप्रभु का समवसरण बिहार करते समय यहाँ आया था इस घटना के प्रतीकस्वरूप ही यहाँ चंदा-प्रभु की खड़गासन प्रतिमा उत्कीर्ण की गयी। इसकी ऊँचाई साढ़े सात फीट है। प्रतिमा के नीचे भाग में उत्कीर्ण हिन्दी लेख में जो किसी प्राचीन लेख के आधार पर लिखा गया है। इस प्रतिमा और मंदिर को संम्वत् ३३५ वि० में जीर्णोद्धर दर्शाया है। इस लेख के अनुसार श्री श्रवणसेन–कनकसेन ने इस मंदिर का पुनर्निर्माण सं० ३३५ विक्रमी में कराया तथा संवत् १८८३ में पुनः मथुरा के सेठ लक्ष्मीचंद द्वारा जीर्णोद्धार कराया गया। इस जीर्णोद्धार के समय मूल शिलालेख चरणों के नीचे होने से दब गया पर इसे अनुवाद करके लगाया गया है। जिसे अविश्वसनीय मानने का कोई कारण नहीं है।[1]

जैन ग्रन्थों के उल्लेखों के अनुसार साढ़े पांच करोड़ मुनियों ने इसे अपनी सिद्ध भूमि होने का गौरव प्रदान किया है। साधुओं के संघ बिहार की प्राचीनतम घटना सन् २५८ ई०पू० के लगभग है जब सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य

के समय में महाकाल पड़ने पर साधु संघ का अंश चलकर यहां ठहरा था। दतिया से १६ कि०मी० दक्षिण-पूर्व में ग्राम गुर्जरा में शिलालेख अंकित है। इस गांव के निकट सिद्धि की टोरिया के नीचे एक बलुआ पत्थर की अर्ध-गोलाकार चट्टान है इस पर महाशिलालेख अंकित है। इसमें अशोक का निजी नाम का उल्लेख है। सम्राट अशोक का निजी नाम वाला प्रथम शिलालेख मास्को में पाया गया था। [2]

सिहोनियां :—

मुरैना जिले में स्थित सिहोनियां नामक नगरी इस क्षेत्र की प्राचीनतम ऐतिहासिक नगरियों में प्रमुख है। प्राचीन ग्रन्थों में नाग सम्राटों की राजधानी क्रांतिपुरी वर्तमान में कुतवार इसी नगर का ऐतिहासिक नाम है यहां माता मंदिर के पास पहली से पन्द्रहवीं शताब्दी के अवशेष भरे पड़े हैं। अभी तक इन पर पर्याप्त शोध के अभाव में इनके तथ्य अज्ञात हैं। यहां ग्वालियर के तोमर राजा वीरमदेव के समय में बना विशाल एवं भव्य चैत्रनाथ मूर्ति समूह अभी भी सुरक्षित है। इसमें चैत्रनाथ की मूर्ति पर १४६७ वि० सं० का शिलालेख अंकित है। [3] जैन पुरातत्व की यह रमणीक स्थली है।

पवाया :—

ग्वालियर जिले में डबरा के निकट पवाया नामक ग्राम ऐतिहासिक दृष्टि से इस सारे क्षेत्र में स्थित प्राचीनतम नगरों में से एक है। अनेक इतिहासकारों के अनुसार वेदों में वर्णित पद्मावती नामक ऐतिहासिक नगरी यही पवाया है। उपलब्ध अवशेषों में कुछ एक इस क्षेत्र में जैन संस्कृति के प्रचुरतापूर्ण साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। इसमें एक मूर्ति ध्यानस्थ जैन नग्न मूर्ति को सिर पर उठाये हुए है। यह मूर्ति अत्यन्त मनोहारी है। [4] हथफोर गुफाओं के सदृश एक अर्धचंद्राकार नाट्यशाला यहाँ है।

अमरोल :—

ग्वालियर के दक्षिण पूर्व में स्थित अमरोल में अनेकानेक प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई है। इसमें मध्यकाल की पार्श्वनाथ, आदिनाथ की प्रतिमा का सूक्ष्मता से प्रतिरूपण हुआ है। मूर्तियों पर वामन आकृतियाँ पद्मपीठों पर सुखासन मुद्रा में दिखाई गयी हैं। [5]

नरवर :—

शिवपुरी जिले में शिवपुरी से ४० किलोमीटर उत्तर पूर्व स्थित नरवर नगर नल और दमयन्ती के काल में राजा नल द्वारा बसाया नगर माना जाता

है। प्राचीन उल्लेखों में इसे नलपुर कहा गया है। यहाँ श्वेत पाषाणों पर इतना अच्छा पालिश किया गया है कि वह संगमरमर जैसा दिखता है। नरवर के यज्वपाल, गोपाल देव और आसल्लदेव नामक राजाओं ने कला के विकास में व्यापक योगदान दिया। वि० सं० १३१४ से १३२४ के मूर्ति लेखों युक्त सैकड़ों जैन मूर्तियाँ नरवर में हैं। जज्वेल की अधिकांश प्रतिमाओं में प्रशस्तिकार जैन मुनि हैं। यहाँ के बड़े जैन मंदिर में वि० सं० १४७५ एक-एक ताम्रपत्र भी लपलब्ध है जिसमें वीरमेन्द्र राजा एवं उनके मंत्री साफ कुशराज का उल्लेख है। नरवर में एक अतिप्राचीन नाट्य शास्त्र के प्रणेता भरतमुनि की प्रणाली के अनुसार खुली नाट्यशाला भी है जो एतिहासिक साक्ष्यों की बाट जोह रही है। [5]

चंदेरी :—

गुना जिले में चंदेरी और तुमैन जैन कला के महत्व पूर्ण केन्द्र थे। लगभग १०० ई० में चंदेरी पट्ट की स्थापना हुई। भट्टारक देवेन्द्र कीर्ति और और उनके उत्तराधिकारियों ने इस क्षेत्र में जैन धर्म के प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

विदिशा जिले का सिरोज चंदेरी के भट्टारकों के कार्य क्षेत्र में आता था। [5]

ग्वालियर के निकटवर्ती क्षेत्र में पर्याप्त पुरा सम्पदा उपलब्ध एवं बिखरी पड़ी है परन्तु खेद है जैन संस्कृति के पोषकों ने जहां सैकड़ों वर्षों तक इसे संरक्षण एवं सम्बर्द्धन दिया वही अब तिरस्कृत पड़ी है।

संदर्भ :—

१. दतिया दर्शन—हरिमोहनलाल श्रीवास्तव, पृष्ठ—१६

२. प्रो० बी० बी० लाल का लेख — २५०० सं० महावीर स्मृति ग्रंथ ग्वालियर।

३. अर्को० सर्वे रिपोर्ट भाग—२, पृष्ठ—३९६

४. ग्वालियर राज्य अभिलेख- द्विवेदी, पृष्ठ — ५४-५८

५. जैन कला एवं स्थापत्य भाग-१ (भारतीय ज्ञानपीठ), पृष्ठ-१७७-१७८

—

जैन–आचार–पद्धति में अचौर्य एवं अपरिग्रह अणुव्रत की अवधारणा

–डा० राजदेव दूबे

ज्ञान-दर्शन और चारित्र की त्रिवेणी मुक्ति की ओर प्रवाहित होती है। किंतु मनुष्य अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार उसकी गहराई में प्रवेश करता है और अपनी शक्ति के अनुसार चारित्र को ग्रहण करता है। श्रावक घर में रह कर पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते हुए मुक्ति मार्ग की साधना करता है।

जीवन को सुन्दर बनाने वाली और प्रकाश की ओर ले जाने वाली मर्यादाएँ नियम-संयम कहलाती हैं। जो मर्यादाएँ सार्वभौम हैं, प्राणी मात्र के लिए विशेष हितावह हैं और जिन से 'स्व' 'पर' का मंगल होता है, उन्हें नियम या व्रत की संज्ञा दी जाती है।

सेवनीय विषयों का संकल्पपूर्वक यम या नियम रूप से त्याग करना, हिंसा आदि निन्द्य कार्यों का छोड़ना अथवा पात्रदानादि प्रशस्त कार्यों में प्रवृत्त होना व्रत है।[1] जिस प्रकार निरन्तर प्रगतिशील प्रवाहित होने वाली नदियों के प्रवाह को नियन्त्रित करने के लिए दो तटों की विशेष आवश्यकता होती है, ठीक उसी प्रकार जीवन को नियन्त्रित, सुव्यवस्थित, मर्यादित-ढंग से बनाये रखने के लिए, अणुव्रतों की महती आवश्यकता है। जैसे-तटो के आभाव में सरिता का प्रवाह छिन्न-भिन्न हो जाता है। गोप के बिना गये विनष्ट हो जाती हैं, उसी प्रकार 'अणुव्रत हीन' मनुष्य की जीवनधारा छिन्न-भिन्न होकर विनष्ट हो जाती है। फलत: जीवनशक्ति को केन्द्रित करने और योग्य दिशा में ही उसका उपभोग करने के लिए अणुव्रतों की विशेष आवश्यकता है।

अचौर्याणुव्रत :—

किसी भी दशा में पराई वस्तु को ग्रहण न करके उसे वास्तविक स्वामी को लौटा देना–अचौर्याणुव्रत कहलाता है। स्वामी महावीर ने स्पष्ट शब्दों में बताया–अस्तेय की प्रतिष्ठा के द्वारा मोक्ष सुलभ है।[2] मन, वाणी और शरीर से किसी की सम्पत्ति को बिना आज्ञा न लेना अचौर्याणुव्रत है। स्तेय या चोरी के दो भेद हैं–१. स्थूल चोरी और सूक्ष्म चोरी।

जिस चोरी के कारण मनुष्य चोर कहलाता है, न्यायालय से दण्डित होता है और जो चोरी लोक में चोरी कही जाती है, वह स्थूल चोरी है। मार्ग चलते-चलते तिनका या कंकड़ उठा लेना सूक्ष्म चोरी के अन्तर्गत आता है।

किसी के घर में सेंध लगाना, किसी का पाकेट काटना, ताला तोड़ना, लूटना, ठगना आदि चोरी है। आवश्यकता से अधिक संग्रह करना या किसी वस्तु का अनुचित उपयोग करना भी एक प्रकार से चोरी ही है। अचौर्याणुव्रत के धारी गृहस्थ को एकाधिकार पर भी नियंत्रण करना चाहिए। समस्त सुविधाएँ अपने लिए संचित करना तथा आवश्यकताओं को अधिक से अधिक बढ़ाते जाना भी स्तेय के अन्तर्गत आता है। संसार में धनादिक की जितनी चोरी होती है, उससे कहीं अधिक विचार एवं भावों की भी चोरी होती है। फलतः अचौर्य भावना द्वारा भौतिक आवश्यकताओं को नियंत्रित करना चाहिए। वस्तुतः जीवन की किसी भी प्रकार की कमजोरी को छिपाना चोरी है। जीवन में अगणित कमजोरियाँ हैं और होती रहेंगी, पर उन पर न तो पर्दा डालना और न उनके अनुसार प्रवृत्ति करना ही उचित है।[3]

याज्ञवल्क्य ने चोर के लक्षण का उल्लेख करते हुए लिखा है कि जो व्यक्ति पहले से अपराधी हो (नामजद चोर), जिसका निवास स्थान सही ज्ञात न हो आदि लक्षणों से युक्त व्यक्ति को चोरी के अभियोग में पकड़ना चाहिए।[4] अस्तेय व्यक्ति समाज को उन्नति की ओर अग्रसर करता है। स्तेय अधर्म है। ऐसा करने वाले व्यक्ति को राज्य की तरफ से दण्डित करने का प्राविधान बनाया गया था। बलपूर्वक बन्दी को छुड़ाने वाले, घोड़े तथा हाथी की चोरी करने वाले और किसी का बलपूर्वक घात करने वाले पुरुषों को दण्ड के रूप में शूली पर चढ़ाया जाता था। वस्त्र आदि की चोरी करने वालों को कठोर दण्ड दिया जाता था। उनके हाथ और पैर काट लिये जाते थे।[5]

याज्ञवल्क्य के अनुसार अन्न चुराने वाले को अजीर्ण-रोग होता है। वाणी चुराने वाला गूंगा होता है। धान्य में मिश्रण करने वालों का कोई-कोई अंग बड़ा होता है। पिशून की नाक दूषित रहती है। ब्राह्मण की चोरी करने वाला राक्षस होता है।[6] स्वयं चोरी न कर दूसरे द्वारा चोरी करना, चोरी के धन को अपने पास रखना, राज्य द्वारा नियत सीमाओं के बाहर वस्तुओं का आयात-निर्यात करना, माप-तौल के बाट नियत परिणाम से हीनाधिक रखना और नकली वस्तुओं को असली के बदले में चलाना-ये पाँच अचौर्य अणुव्रत के अतिचार हैं, जिसका प्रत्येक गृहस्थ को परित्याग करना चाहिए।[7] इसके परिपालन से व्यक्ति सुखी रहता है।

उपर्युक्त उल्लेखों से ज्ञात होता है कि चोरी के बड़े अपराध-शासन द्वारा निर्णित होते थे। वैसे चोरी के छोटे अपराध भी न्यायालय में जाते थे,

जिन्हें कोई व्यक्ति ले जाता था। अन्य अपराध सम्भवत: स्थानीय न्यायालयों द्वारा ही सुलझा लिए जाते थे। ऐसे अज्ञात अपराध के अपराधी को अपराध करने से रोकने के लिए धर्म का आश्रय विचारकों ने लिया था।

जैन एवं बौद्ध धर्म एवं संस्कृति में अचौर्यव्रत का परिपालन सूक्ष्माति-सूक्ष्म ढंग से किया जाता है। अस्तेय के परिपालन से व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र की उन्नति एवं विकास होता है। महावीर स्वामी ने भी इस अणुव्रत के परिपालन पर विशेष बल दिया है।

अपरिग्रह अणुव्रत :—

'अपरिग्रह' का अर्थ है, बिना आवश्यकता के किसी भी प्रकार के धन आदि का संग्रह न करना, विषयासक्ति का त्याग ही अपरिग्रह है। स्त्री, पुत्र, धन, सम्पत्ति आदि में जो आसक्ति है, वही ममत्व कहलाता है। इस ममत्व का परित्याग ही अपरिग्रह है। मनुष्य विषयों की ओर स्वभावत: आकृष्ट है। वह सदा अपनी धन–सम्पत्ति, इन्द्रिय सुख को बढ़ाने वाले विषयों की चिन्ता करता है। यही परिग्रह का स्वरूप है। सभी विषयों में "मैं" और "मेरा" का भाव उत्पन्न होता है। अत: इसे ममत्व कहते हैं। इसका अभाव ही परिग्रहण है।[8]

आचारांग–सूत्र के अनुसार अपरिग्रह अणुव्रत की पाँच भावानाएँ हैं—

१. श्रोत्रेन्द्रिय के विषय शब्द के प्रति राग-द्वेषरहितता अर्थात् अनासक्त भाव,
२. चक्षुरिन्द्रिय के विषय रूप के प्रति अनासक्त भाव,
३. घ्राणेन्द्रिय के विषय गन्ध के प्रति अनासक्त भाव,
४. रसनेन्द्रिय के विषय रस के प्रति अनासक्त भाव,
५. स्पर्शनेन्द्रिय के विषय स्पर्श के प्रति अनासक्त भाव

स्वामी महावीर का मन्तव्य है कि धनसंग्रह मत करो। धनी मनुष्य संसार सागर के पार नहीं जा सकता। किसी को कष्ट मत दो। तुम्हारे ही समान अत्याचार से पीड़ित होना सबको खलता है।[9] अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह की प्रतिष्ठा के द्वारा मोक्ष सुलभ है। मुनियों के लिये ये अणुव्रत है।[10]

जैन आचार की यही प्रारम्भिक रूप-रेखा थी। इसका परिपालन सन्यासियों के लिए भले ही कठिन न रहा हो, पर साधारण गृहस्थों के लिए प्राय: असम्भव है। परवर्ती युग में गृहस्थों के लिए सुविधा दी गयी कि वे यथासम्भव इन व्रतों का परिपालन करें। यथाशक्य व्रत परिपालन को अणु-व्रत कहा गया।[11] जैन मुनियों के आचारपद्धति का विकास महावीर के आदर्शों,

मूल्यों एवं प्रतिमानों को लेकर हुआ और मुनियों के आचार सुगम रूप देकर गृहस्थों की आचार-पद्धति का निर्माण हुआ। संसार की गति तथा शरीर के स्वभावों का अनुशीलन करने से हिंसा, असत्य, परिग्रह आदि से विराग होना स्वाभाविक है।[12] मन से दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिए कि उपर्युक्त अणुव्रतों का परिपालन करने वाला व्यक्ति निःशक्य (सर्वथा) सुखी होता है। इन अणुव्रतों का परिपालन करने से व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र की विशेष उन्नति होती है। इनके परिपालन से व्यक्ति-जीवन के अन्तिम लक्ष्य 'मोक्ष' को प्राप्त करता है।

सन्दर्भ :—

१. सागार धर्मामृत, २.८०
सङ्कल्पपूर्वकः सेव्ये, नियमो शुभकर्मणः।
निवृत्तिर्वा व्रतं स्याज्ञा, प्रवृत्तिः शुभकर्माणि ॥
द्रष्टव्य — अर्हत् पार्श्व और उनकी परम्परा – श्रमण, मई १९८८, पृ० ३०-३१

२. आचारांग सूत्र, ७, ९.२
द्रष्टव्य — मोहनलाल मेहता – जैनधर्म-दर्शन, जैन इंस्टिट्यूट, (वाराणसी, १९७३), पृ० ५११

३. नेमिचन्द्र शास्त्री – तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, (सागर, १९७४), पृ० ५१८-५१९
द्रष्टव्य — रामजी उपाध्याय – प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, (इलाहाबाद, १९६६), पृ० ५०५

४. याज्ञवल्क्य स्मृति, २.२.६६, २६८, मनुस्मृति, ८.२३२; नारदस्मृति, १४.१७

५. वही, २.२६९, २.२७०, २७१, ७३, ७४

६. वही, २.२१०, २१५

७. हीरालाल जैन – प्राचीन भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, (भोपाल, १९६३), पृ० २५०

८. बी०एन० सिंह – भारतीय दर्शन, (वाराणसी, १९८१), पृ० १५२

९. आचारांग सूत्र, २.२.१
द्रष्टव्य — मोहनलाल मेहता, जैन धर्म-दर्शन, पृ० ५१३

१०. वही, ११५, ५१४

११. वही, ७, १.२

१२. तत्वार्थ सूत्र, ७.१, २.२०

★

भगवान महावीर और उनका जीवन-दर्शन*

—डा० शशि कान्त

आज ही के दिन २५९१ वर्ष पहले एक महापुरुष ने हमारे देश के बिहार प्रदेश के उत्तरांचल में स्थित वैशाली के प्रांतर में जन्म लिया था। वह प्रदेश उस समय एक शक्ति-सम्पन्न, सुव्यवस्थित और समृद्ध गण-राज्य था। जिस परिवार में उन्होंने जन्म लिया था वह उस गणराज्य के सम्मान्य नागरिक थे और राजा कहलाते थे। वह महापुरुष भारतीय संस्कृति की श्रमण परम्परा में २४ वें तीर्थंकर के नाम से जाने जाते हैं, और जैन धर्म की वर्तमान में चली आ रही धर्म, दर्शन एवं आचार की व्यवस्था के शास्ता भगवान महावीर थे।

महावीर के जीवन की तीन घटनाओं का लोक में विशिष्ट महत्व रहा है। उनके जन्म की घटना जो २५९१ वर्ष पहले चैत्रशुक्ल त्रयोदशी को घटित हुई, उनके द्वारा प्रथम उपदेश की घटना जिसके साथ उन्होंने २५४९ वर्ष पूर्व श्रावण कृष्ण प्रतिपदा को अपने तीर्थ का प्रवर्तन किया, तथा उनके निर्वाण-लाभ अर्थात् संसार में आवागमन के चक्र से मुक्त हो परमातमत्व प्राप्त करने की घटना जो कार्तिक कृष्ण अमावस्या को प्राय: २५१९ वर्ष पूर्व घटित हुई।

भारतीय संस्कृति के विकास में मनुष्य के अन्दर पैठी हुई प्रवृत्ति और निवृत्ति की वृत्तियां देखने को मिलती हैं। ब्राह्मणीय विचारधारा में मनुष्य की प्रवृत्तिमूलक वृत्ति का विशेष रूप से पोषण हुआ और श्रमण विचार-धारा में मनुष्य की निवृत्ति मूलक वृत्ति पर आग्रह रहा। प्रवृत्ति और निवृत्ति को मोटे रूप से फैलाव और संकुचन के अन्तर्गत समझा जा सकता है। प्रवृत्ति का आशय है कि मनुष्य अपने चारों ओर प्रवृत्त होना अथवा फैलना चाहता है। उसका लाक्षणिक रूप यह है कि मनुष्य अपनी वृत्तियों के प्रवाह के अनुसरण में और अपनी लौकिक इच्छाओं की पूर्ति की दिशा में आगे बढ़ता है। इसमें जो कुछ है उसके प्रति एक प्रकार के समर्पण की भावना लक्षित होती है।

निवृत्ति का आशय इसके विपरीत है, अर्थात् जो कुछ है मनुष्य उसे छोड़ता जाए, अपनी नैसर्गिक वृत्तियों पर अंकुश लगाता जाय, और अपने में ही सिमटता जाए ताकि वह अपने मूल स्वरूप को समझ सके और इसका अनुभव भी कर सके। यह श्रम का अर्थात् तप और त्याग के आधार पर यत्नपूर्वक किए गये प्रयास का मार्ग है। इसमें संघर्ष अंतर्भूत है, परन्तु वह

*आकाशवाणी, लखनऊ से १५-४-१९९२ को प्रसारित वार्ता

संघर्ष बाह्य जगत से नहीं, वरन् अपने अन्तर में जो कुछ हमारी आत्मा को कसे हुए है उन विकारों के प्रति है। मोटे रूप से कहा जाये तो जो मनुष्य भीड़ में खो गया है वह भीड़ से बाहर निकलकर एकान्त चाहता है।

महावीर के नाम के साथ 'वीर' का जुड़ा होना उनके जीवन-दर्शन का एक लक्षण है। वह जन्मत: क्षत्रिय थे और विचार से श्रमण, और दोनों ही रूपों में वीरता उनका विशिष्ट गुण था। महावीर नाम उनके अनुयायियों द्वारा उन्हें श्रद्धा के रूप में दिया गया है। उनका जन्म का नाम वर्द्धमान था और समसामयिक अन्य धर्म-गुरु उन्हें 'निगण्ठनात पुत्त' या 'निर्गन्थ ज्ञातृ-पुत्र' के नाम से जानते थे। उनके जन्म से उनके परिवार में समृद्धि की वृद्धि हुई अत: माता-पिता ने उनको वर्द्धमान नाम दिया। वह किसी ग्रन्थ से बंधे नहीं थे और न ही अपने अनुयायियों को किसी ग्रन्थ से बांधते थे, इसलिए वे निर्ग्रन्थ कहलाए। ज्ञातृकवंशीय होने के कारण वह ज्ञातृ-पुत्र कहलाते थे।

महावीर के जीवन-दर्शन का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि वह अशरण-भावना का प्रतिपादन करते हैं। इसका अर्थ है कि यदि मनुष्य अपनी उन्नति करना चाहता है तो उसे किसी की शरण में जाने की अथवा किसी का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं है। अपने अनुयायियों को वह यही बताते थे कि वह उस अवस्था को पहुंच गए हैं जो वीतराग है अर्थात् जो राग व द्वेष से परे है, और इसका सीधा मतलब था कि जिन्हें भला लगे वे उनकी बातें सुनें और स्वयं अनुभव के आधार पर अपनी आत्मा का उन्नयन करें, ताकि वे भी संसार में आवागमन के चक्र से मुक्त होकर पूर्ण शुद्ध चैतन्य आत्म-स्वरूप को प्राप्त कर लें। वह कहते थे कि वह किसी को कुछ देने की स्थिति में नहीं हैं, अत: यदि कोई उनके पास किसी अभिलाषा से आया है, या कोई प्रार्थना लेकर आया है, तो उसे कुछ प्राप्त नहीं हो सकेगा। यह मनुष्य की नैसर्गिक वृत्ति के विपरीत धारा थी, जो आम जनता के लिए सहज नहीं थी। परन्तु बौद्धिक जिज्ञासा को प्रेरित, प्रस्फुटित और पल्लवित करने के लिए यह एक क्रान्तिकारी वैचारिक विधा थी और विगत ढाई हजार वर्ष में भारत में जो दार्शनिक चिन्तन प्रस्फुटित और विकसित हुआ है उसमें महावीर की विचार प्रणाली का बहुत बड़ा प्रभाव रहा है।

महावीर के विचार दार्शनिक और आध्यात्मिक दृष्टि से तो महत्वपूर्ण हैं ही, उनका सामान्य नागरिक जीवन के लिए भी व्यावहारिक महत्व है। उन्होंने कहा कि ऋण को थोड़ा, घाव को छोटा, आग को कम और कषाय

को अल्प, समझ लेना ठीक नहीं है क्योंकि ये थोड़े-थोड़े ही बढ़कर बहुत बड़े हो जाते हैं। ऋण की बात से आज हम राष्ट्रीय स्तर पर भी चिन्तित हैं और विश्व-बैंक जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संस्थानों से कर्ज लेने के एवज में अपने आर्थिक स्वावलम्बन को चुनौती दिए जाने से सभी चिन्तनशील भारतीय दुःखी हैं। कुछ लोग रूखी रोटी खाकर जी लेना अच्छा समझते हैं इसके बनिस्बत कि कर्ज लेकर ऐश करें। इस प्रकार के लोग सुखी रहते हैं, यह सभी मनीषियों की मान्यता है और स्वानुभूत भी है। राष्ट्र के परिप्रेक्ष्य में इसका उतना ही महत्व है, जितना कि व्यक्तिगत जीवन में।

महावीर ने अपने दर्शन में कषाय को विशिष्ट अर्थ दिया है। जो वृत्तियां हमारी आत्मा को बन्धन में कसती हैं, वे कषाय हैं, और ये बन्धन ही आत्मा के इस संसार में जन्म और मृत्यु के रूप में आवागमन के हेतु हैं। इस प्रकार के सभी विकार, क्रोध, मान, माया और लोभ के अन्तर्गत आ जाते हैं। महावीर ने कहा कि क्रोध प्रीति को नष्ट करता है, मान विनय को नष्ट करता है, माया मित्रता को नष्ट करती है, और लोभ प्रीति, विनय तथा मित्रता सभी को नष्ट करता है। यह एक व्यावहारिक सत्य है। समाज में सामंजस्य रहने के लिए आवश्यक है कि समाज के विभिन्न वर्गों में और व्यक्तियों में परस्पर प्रीति का भाव हो, एक-दूसरे के प्रति सम्मान व विनय की भावना हो, आचरण में निष्कपटता, सहजता और मैत्री की भावना हो, तथा आपा-धापी, दूसरे के न्यायोचित हितों की उपेक्षा और किसी भी प्रकार अपने स्वार्थ का ही साधन करना अभीष्ट न हो।

महावीर के जीवन-दर्शन में मूल-तत्व अहिंसा है, जो लोक-व्यवहार में 'जियो और जीने दो' के रूप में जाना जा सकता है। प्रत्येक जीवधारी चाहे वह मनुष्य हो, या पशु-पक्षी हो, जीना चाहता है, मरना नहीं चाहता। कोई जीवधारी दुःख भी नही चाहता। हम हिंसा करते हैं क्रोधवश लोभवश। लोभ संग्रह की प्रवृत्ति को बढ़ाता है, इसीलिए महावीर ने परिग्रह की बुद्धि का त्याग करने पर बल दिया, ताकि जीवदया से प्रेरित होकर और लोभ से विरत होकर मनुष्य अन्य प्राणियों के प्रति विवेकशील, सहज और मैत्रीपूर्ण रहे।

आज के जीवन में महावीर का जीवन-दर्शन विशेष रूप से उपयोगी है क्योंकि वह हमें यह सोचने के लिए प्रेरित करता है कि हमारी मूल वृत्ति क्या है, और हम उन वृत्तियों को जो जीवन में समन्वय और सामंजस्य का पोषण करती हैं किस प्रकार पुष्ट करें, ताकि समाज में, राष्ट्र में और सम्पूर्ण मानव जगत में परस्पर मैत्री, सद्भावना और शान्ति की व्यवस्था सुनिश्चित हो सके। ★

स्वास्थ्य व आध्यात्मिकता का पारस्परिक सम्बन्ध

—श्रीमती आशा सहारिया

सुखी व स्वस्थ जीवन के लिये शरीर व मन दोनों को ही स्वस्थ रखना परमावश्यक है। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन का वास होता है। अस्वस्थता के कारण मन भी चिड़चिड़ा, चिन्ताग्रस्त व व्याकुल रहता है। शरीर स्वस्थ हो किन्तु मन में चिन्तायें हों तो मनुष्य न स्वस्थ ही रह सकता है और न सुखी ही। शारीरिक स्वास्थ्य और आध्यात्मिक स्वास्थ्य दोनों में समन्वय रखना आवश्यक है।

शरीर, आत्मा का, जो कि परमात्मा का ही एक अंश है, एक वाहन मात्र है। वाहन से अधिक महत्वपूर्ण है वाहक, मालिक, जिसके लिए वाहन को अच्छी दशा में रखना होता है। शरीर की कितनी भी देखभाल क्यों न की जाये, वह समय के साथ अवश्य क्षीण होता जायेगा, जो उत्पन्न हुआ है उसका अन्त भी निश्चित है, किन्तु आत्मा नित्य है अमर है। नाश शरीर का होता है, आत्मा का नहीं। जो नित्य है, विनाशकारी नही है, उस आत्मा का, परमात्मा का, ध्यान करना, उसे जानना, पहचानना, समझना, जीवन का मुख्य ध्येय है। मनुष्य योनि में ही इसे ज्ञात किया जा सकता है, क्योंकि मानव ही एक मात्र प्राणी है जिसे विवेक प्राप्त है। विवेक द्वारा ही वह आत्मज्ञान प्राप्त करने में समर्थ है। जीवन का क्या उद्देश्य है, हम कौन हैं, कहां से आये हैं, कहां जायेंगे, जीवन मरण के चक्र से बाहर होने का भी क्या कोई उपाय है, इन सब प्रश्नों का उत्तर मनुष्य को प्राप्त करना है। क्या सारा जीवन, खाने पीने, पहनने, ओढ़ने, घर बाहर, की ही चिन्ता में व्यतीत करना है, क्यों नहीं हम अपने आत्माराम को देख सकते व पहचान सकते हैं, कौन सा पर्दा है जो हमें सत्यदर्शन से दूर कर रहा है, ज्ञान को छिपा कर अज्ञान की ओर ले जा रहा है ? काम, क्रोध, लोभ, द्वेष आदि ये मन के विकार ही हैं जो ज्ञान को आच्छादित किये हुए हैं, हमें मोह में डाले हुए हैं, और हमें उचित राह पर नहीं चलने देते। सर्व प्रथम हमें अपने इन विकारों को पहचानना है, समझना है, अपनी गलतियों को दूर करना है। हमारी ही गलतियां होती हैं जो सबसे अधिक हमारी शत्रु होती हैं, अपने दोषों को देखने, पहचानने व दूर करने के स्वभाव के बिना हम अपने आत्मा राम को न तो देख ही सकते हैं और न पहचान ही सकते हैं। उस

पर तो हमने एक काला पर्दा डाल रखा है। सर्वप्रथम हमें इस पर्दे को उठाना है, और यह तब ही सम्भव है जब हम सत्य, धर्म, शान्ति व प्रेम के मार्ग का अनुसरण करें। इसी मार्ग पर चल कर आध्यात्मिक उन्नति व स्वस्थता प्राप्त की जा सकती है। काम क्रोध तथा उसके संगी साथियों को हृदय से बाहर करने पर ही हृदय स्वस्थ शुद्ध व निर्मल होगा और उसी दशा में हमें अपने आत्माराम के दर्शन प्राप्त होंगे, तथा तब ही हम सदा सर्वदा अविनाशी सच्ची शान्ति व आनन्द प्राप्त कर सकने में समर्थ होंगे। यही आत्म दर्शन व आत्म साक्षात्कार है और यही आध्यात्मिकता की चरम सीमा है। अपने अन्तर ज्योति नमो, परमात्मा ज्योति नमो। अविचल ध्यान करने पर यह ज्योति अथवा बिन्दु के रूप में दृष्टिगोचर होता है। इसका स्वरूप सत् चित्त आनन्द है, अक्षय आनन्द का भण्डार है और यही सत्चिदानन्द परमात्मा का स्वरूप है। यह अविरल आनन्द का स्रोत है, जितना चाहो आनन्द ले लो किन्तु इसका भण्डार सदैव पूर्ण रहेगा। पूर्णमिदः पूर्णमिद पूर्णात् पूर्णमुच्य ते, पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवाविशिश्यते।

'वैद्यो नारायणे हरि'। आत्मा ही नारायण है, वही वस्तुतः वैद्य अथवा डाक्टर है, जो समस्त रोगों को शारीरिक हो या मानसिक – दूर करता है। हरि का नाम उसका सतत् स्मरण ही वह शक्तिशाली औषधि है जो हमारे अन्तर में जन्म जन्मान्तरों से गहरी पैठी हुई इस भावना को कि संसार सत्य है, हम शरीर है, दूर कर सकती है। संसार परिवर्तनशील है, हर क्षण बदलता रहता है, हर क्षण शरीर में टूट-फूट, क्षति व वृद्धि होती रहती है। शरीर को कितने भी पौष्टिक पदार्थ क्यों न खिलाये जायें, हर प्रकार की देख-रेख भले ही की जाये - वह एक न एक दिन अवश्य नष्ट हो जायेगा। मृत्यु की चपेट से जब बड़े-बड़े महात्मा साधक व अवतारी पुरुष भी दूर नहीं रह सके तो साधारण मानव किस गिनती में है।

भगवान की लीलाओं, महिमाओं का सदा अध्ययन, श्रवण, मनन, चिन्तन व उसके मधुर नामों का गान मनुष्य के अन्तर में दैवत्व का विकास करता है तथा उसकी आध्यात्मिक उन्नति में सहायक होता है।

संसार में रह कर, अपने निर्धारित कर्मों व कर्तव्यों को कुशलता से निभाते हुए, मनुष्य को निरन्तर भगवान के ध्यान में निमग्न रहना है, उसे सतत् स्मरण रखना है। यही विघ्न, बाधाओं कठिनाइयों को दूर करने वाला और हर परीक्षा में उत्तीर्ण करने वाला है। भगवान को स्मरण करते हुए जो

भी कार्य किया जायेगा वह सब पूजा के अन्तर्गत है। अपने कार्यों को सच्चाई, ईमानदारी, योग्यता व स्वार्थ भावना से मुक्त होकर करने से संसारिक जीवन में तो मनुष्य सफलता प्राप्त करता ही है साथ ही साथ इन कर्मों द्वारा वह आध्यात्मिक उन्नति भी कर लेता है। गीता में कहा गया है 'योग कर्मसु कौशलम' संसार में रह कर हर प्रकार का काम, छोटे से छोटा व बड़े से बड़ा करना पड़ता है। जो काम भी करना हो प्रसन्नता से व दत्त चित्त होकर करने से ही उसमें सफलता मिलती है। 'कर्मण्ये वाधिकारस्ते' कर्म करना ही केवल हमारे वश में है, उस पर ही हमारा अधिकार है। अच्छे का अच्छा, बुरे का बुरा फल तो स्वमेव मिलेगा ही। भेद केवल इतना ही है कि कब किस समय किस रूप में किस कर्म का फल मिलना है, यह निर्णय परमात्मा के ही हाथ में है। संसार में रह कर कर्म करते हुए हमें संसार के पाश से दूर ही रहना चाहिए। कर्म करे, अपने कर्तव्य पूरे करे किन्तु मोह से दूर रहे उसमें लिप्त न हो, उसी प्रकार जैसे कमल जल में रहता हुआ भी जल से दूर रहता है। संसार में रह कर भी संसारिक न बन सके इसका एक उपाय है नि:स्वार्थ सेवा व त्याग 'न कर्मणा, न प्रजया धनेन, त्यामेन वै अमरत्व मानुष:, अमरत्व, कर्म, जन्म या धन से प्राप्त नहीं होता बल्कि वह प्राप्त होता है त्याग से। लोक सेवा करने से सबसे अधिक शिक्षा त्याग की मिलती है। सेवा सर्वोच्य साधना है क्योंकि भगवान स्वयं मानवता की सेवा करने मनुष्य का रूप धारण कर उनके बीच में अवतरित होते हैं। मनुष्य जब मनुष्य की सेवा करता है तब भगवान अतीव प्रसन्न होते हैं। माधव का ही साकार रूप मानव का रूप है। किसी को प्रसन्न करके ही सच्ची प्रसन्नता प्राप्त होती है। सेवा का अवसर प्राप्त होने पर उसमें तत्क्षण आगा पीछा सोचे बिना लग जाना उचित होता है। भगवान को अपने जनों की सेवा अति प्रिय है। सेवा का सबसे बड़ा लाभ यह है कि उससे अहंकार का नाश हो जाता है। आत्मीयता, बन्धुत्व, प्रेम व सहानुभूति का सम्बन्ध सबके साथ सेवा करने से स्थापित हो जाता है। जो पवित्र उच्च भावना भगवान की पूजा के प्रति मन में होती है उसी भावना से, जन जनार्दन की सेवा करनी आवश्यक है। वृद्ध, असहाय, दीन-दुखियों व रोगियों के प्रति सदा सहानुभूतिपूर्वक व्यवहार करना चाहिए तथा यथा संभव उनकी सेवा का कोई भी अवसर हाथ से नहीं खोना चाहिए। रोगी व दु:खी जनों के प्रति सहानुभूति पूर्वक मृदु व्यवहार व सहायता मानवता की

(शेष पृष्ठ ४९ पर)

जैन साहित्य के महाविद्वान् हरमन जैकोबी

—डा० रानी मजूमदार

पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय साहित्य के प्रकाशन और अध्ययन में अमूल्य योगदान किया है। उनके अथक परिश्रम से अनेक भारतीय ग्रन्थ जो लुप्तप्राय थे पुन: प्राप्त हो गए। इस कार्य में जर्मन देश के विद्वानों का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। पिछली दो शताब्दियों में उन्होंने भारतीय विद्या के अन्य प्रभेदों के साथ-साथ जैन साहित्य पर भी बहुत प्रकाश डाला है। इन विद्वानों में हरमन जैकोबी का नाम चिरस्मरणीय रहेगा। जैन समाज ने इनको 'जैन धर्म दिवाकर' विरुद से अलंकृत किया।

इनका जन्म जर्मनी के कोलोन शहर में ११ फरवरी १८५० ई० में हुआ। हाई स्कूल परीक्षा के बाद वे बर्लिन नगर गए और वहाँ उन्होंने गणित का अध्ययन किया। परन्तु शीघ्र ही उनकी रुचि संस्कृत में बढ़ी और उन्होंने तुलनात्मक भाषा शास्त्र का मनोयोग से अध्ययन प्रारम्भ किया।

(पृष्ठ ४८ का शेष)

सबसे बड़ी व उत्तम सेवा है। यह सेवा ही वास्तव में भगवान की पूजा है। इस पूजा से भगवान सबसे अधिक प्रसन्न होते हैं। वैद्य, डाक्टर, हकीम ध्यान पूर्वक व सहानुभूति पूर्वक रोगियों का इलाज करके भगवान का अनुग्रह सरलता से प्राप्त कर सकते हैं। भगवान का अनुग्रह प्राप्त करना जीवन की सबसे बड़ी सफलता है। प्रेम व सेवा भाव से मन अहंकार रहित होकर शुद्ध हो जाता है तब उसमें सरलता से भगवान का प्रतिबिम्ब झलकने लगता है।

मानव शरीर की वह एक मात्र योनि है जिसके द्वारा उस परम तत्व की प्राप्ति के लिए प्रयास किया जा सकता है मानव जैसे श्रेष्ठ प्राणि को भगवान ने केवल खाने पीने सोने जागने मात्र के लिये ही उत्पन्न नहीं किया है, उसे तो अज्ञात् अव्यक्त की खोज करनी है। स्वयम् का प्रयत्न ही केवल स्वयं का उद्धार करता है। 'उद्धरेत आत्मनात्मानम'। अध्यात्मिकता से रिक्त भौतिक उन्नति किसी व्यक्ति को न तो परिपूर्ण मानव बना सकती है और न वह समुचित रूप से जीवन यापन कर सकता है। अत: आध्यात्मिक उन्नति जीवन में परमावश्यक है। शारीरिक स्वास्थ्य भी मानसिक शान्ति व संतोष से ही सुरक्षित रह सकता है। ★

तत्पश्चात् वे बॉन नगर गए। बॉन नगर संस्कृत विद्या के लिए बहुत प्रसिद्ध था। जर्मनी में सबसे पहला संस्कृत विभाग बॉन विश्वविद्यालय में सन् १८१८ में खुला। और वहाँ जैकोबी ने संस्कृत में सन् १८७२ में पी-एच० डी० प्राप्त की। उनका विषय था 'भारतीय ज्योतिष में प्रयुक्त होरा शब्द की उत्पत्ति'। यह शोध ग्रन्थ उन्होंने लैटिन भाषा में लिखा। इनकी रुचि गणित तथा संस्कृत दोनों में थी अतः इस शोध ग्रन्थ में इनका इन दोनों विषयों का सुन्दर समन्वय दर्शनीय है।

इसके बाद वे लन्दन गए और वहां मैक्समुलर के सहायक रहे। एक वर्ष वहाँ रहकर वे सन् १८७३-७४ में भारत आए। यहाँ आकर उन्हें ब्यूलर के साथ राजस्थान व गुजरात में पर्यटन का सुअवसर प्राप्त हुआ। ब्यूलर गुजरात व पश्चिम भारत में ताड़पत्रीय लिपियों का संकलन कर रहे थे। उनके साथ जैकोबी को भी जैन मठों और मन्दिरों में जैन ग्रन्थ भण्डारों के दर्शन और निरीक्षण का सुनहरा अवसर प्राप्त हुआ। और यहीं से उनकी जैन विद्या के प्रति अभिरुचि उत्पन्न हुई।

पुनः स्वदेश लौटने पर जैकोबी सन् १८७६ में म्युन्स्टर विश्वविद्यालय में सहायक प्रोफेसर हो गए। सन् १८८५ में कील विश्वविद्यालय में प्रोफेसर बन गए तथा १८७९ ई० में वे कोलोन वापिस चले गए।

सन् १९१३-१४ में जैकोबी पुनः भारत आए और उन्हें कलकत्ता विश्वविद्यालय ने भारतीय काव्य-शास्त्र पर भाषण देने के लिए आमन्त्रित किया और उन्हें डॉक्टरी की मानक उपाधि से सम्मानित किया। सन् १९२२ में उन्होंने अवकाश ग्रहण किया और उसके बाद आजीवन अध्ययनरत रहे।

बहुमुखी प्रतिभा से संपन्न जैकोबी की रुचि केवल गणित व विज्ञान में ही नहीं थी। उन्होंने वेदों के समय पर भी एक लेख लिखा और ज्योतिः शास्त्र के आधार पर वेद मन्त्रों के संकलन का समय ४५०० ई० पू० निर्धारित किया। उन्होंने पुनः इसी विषय पर रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की पत्रिका में एक और लेख प्रकाशित करवाया जो अनेक समय तक विद्वानों में चर्चा का विषय बना रहा।

जैकोबी ने अनेक प्राकृत ग्रन्थों का भी प्रकाशन किया। और इसी समय उन्होंने प्राकृत व्याकरण तथा भाषा विज्ञान पर भी लिखना प्रारम्भ

किया। इस क्षेत्र में उनका 'भारोपीय-भाषाओं में विन्यासविधि' का प्रकाशन एक महत्वपूर्ण योगदान रहा।

जैकोबी ने रामायण तथा महाभारत पर भी विस्तृत भूमिका सहित ग्रन्थ लिखे। इसके अतिरिक्त उन्होंने काव्य तथा सौन्दर्य के सिद्धान्तों पर भी लेख लिखे। उन्होंने आनन्दवर्धन के प्रसिद्ध ध्वन्यालोक का भी अनुवाद किया। 'अलंकार शास्त्र का इतिहास' इस विषय पर लिखा इनका ग्रन्थ सबसे पहले लिखा गया अलंकार शास्त्र संबंधी ग्रन्थ है।

हिन्दू धर्म के दार्शनिक ग्रन्थों में जैकोबी की प्रमुख रुचि न्याय तथा वैशेषिक के प्रति रही परन्तु उन्होंने योग पर भी लेख लिखा। 'सांख्य-योग से बौद्ध-धर्म की उत्पत्ति' (१८९६) नामक लेख में जैकोबी ने यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया कि बौद्ध-धर्म की उत्पत्ति सांख्य तथा योग दर्शन से ही हुई है। जैकोबी तथा आर० गार्बे ने भगवद्गीता पर भी विस्तृत अध्ययन किया।

यद्यपि जैकोबी ने वेद, इतिहास, दर्शन, अलंकार व ज्योतिष से संबंधित सभी विषयों में अपनी विद्वत्ता का परिचय दिया, परन्तु उनका प्रमुख योगदान तो जैन विद्या में ही रहा। इन्होंने अनेक आगम ग्रन्थों का सुचारु रूप से संपादन और अनुवाद किया। इस सन्दर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जैन-सूत्रों के आंग्लानुवाद, जो मैक्समुलर द्वारा संपादित Sacred Books of the East ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुए।

जैन विद्या पर जैकोबी की प्रमुख रचनाओं का विवरण निम्न प्रकार है :—

१. भद्रबाहुकृत कल्पसूत्र, संपादन, भूमिका, टिप्पणी तथा प्राकृत-संस्कृत शब्द-कोष सहित, लैप्जिग, १८७९

२. कालकाचार्य कथानक, (सं) व अनुवाद, १८८०

३. अयरंग-सूत्र, (सं) लन्दन, १८८२

४. हेमचन्द्र रचित स्थविरावलिचरितम्, (सं) कलकत्ता १८८३, द्वितीय संस्करण १९३२

५. आचारांग सूत्र व कल्प सूत्र का आंग्ल-भाषा में अनुवाद 'द सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट' ग्रन्थमाला का २२ वां पुष्प, लंदन १८८४ में तथा

६. उत्तराध्ययनसूत्र और सूत्रकृताङ्गसूत्र का आंग्लानुवाद, सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट ग्रन्थमाला का ४५ वां पुष्प, लंदन १८९५

७. महाराष्ट्री प्राकृत की कुछ चुनी हुई कथाएं, टिप्पणी व व्याकरण सहित लैप्जिग, १८८६

८. सिद्धर्षिकृत उपमिति-भव-प्रपञ्च-कथा, (सं), कलकत्ता, १९०१-१४

९. हरिभद्रकृत समराइच्च कहा, (सं), १९०८, द्वितीय संस्करण १९२६

१०. विमलसूरि रचित पउमचरिय, (सं), १९१४

११. धनपालविरचित भविसत्त कहा, (सं) म्युनिक १९१८

१२. धनपालकृत सनत्कुमारचरित, (सं) म्युनिक १९२१

इन विविध जैन आगम ग्रन्थों के तथा जैन कथा साहित्य से संबंधित ग्रन्थों के संपादन, प्रकाशन और अनुवाद के अतिरिक्त जैकोबी ने जैन धर्म के विभिन्न विषयों पर अनेक लेख भी लिखे। और इस प्रकार वे अपने गुरु वेबर के साथ जैन-विद्या के प्रमुख प्रवर्तक हो गए। उन्होंने अपने गहन अध्ययन के आधार पर यह सिद्ध कर दिया कि न केवल महावीर अपितु पार्श्वनाथ भी ऐतिहासिक व्यक्ति थे और जैन-धर्म बौद्ध-धर्म से प्रादुर्भूत नहीं हुआ था जैसा कि उस समय अन्य विद्वानों का विचार था।

इसी प्रकार जैन धर्म विषयक इस बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न होने के कारण ही भारत के जैन समाज ने उन्हें जैन-धर्म-दिवाकर की पदवी से विभूषित किया। डा० हरमन जैकोबी का निधन १९ अक्टूबर १९३७ को बॉन में हुआ।

आचार्य कपिल देव द्विवेदी ने अपने 'शर्मण्य: प्राच्यविद:' नामक ग्रन्थ में जैकोबी के जीवन व रचनाओं का वर्णन संस्कृत पद्यों में किया है। उनका एक श्लोक यहाँ उद्धृत करेंगे—

संमानितोऽभूच्च स जैन धर्म्यै:
दिवाकरत्वेन च जैन-तत्वे।
जैनातिरिक्ते विषयेऽपि सोऽयं
लिलेख ग्रन्थान् बहु-लेखमाला:॥

——

मगध-राज कुणिक-अजातशत्रु

—श्रीमती सुधा जिन्दल

Commentary (हल्के संगीत के बीच)—आइये, हम आपको दो हजार छः सौ साल पुराने भारत में ले चलते हैं। उस युग में भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध की वाणी जनकल्याण हेतु मुखरित हो रही थी। उस समय गंगा के दक्षिण में मगध नाम का शक्तिशाली राजतंत्र था। गंगा के उत्तर में लिच्छवी गणराज्य था जो आठ गणों का संघ होने के कारण कम शक्तिशाली न था। इसकी राजधानी वैशाली अपनी सम्पन्नता और समृद्धि के लिये विश्वविख्यात थी। किन्तु मगध नरेश अजातशत्रु की महत्वाकांक्षी और विस्तारवादी लोलुप दृष्टि ने लिच्छवी गणतंत्र के शक्ति स्रोतों को निर्बल कर दिया और अपनी कुटिल नीति में सफल हुआ।

उसी समय महावीर की वाणी गंगा घाटी में सिंह गर्जन के समान गूंज रही थी। भगवान महावीर के संदेशों ने उस क्रूर के मरुस्थल हृदय में भी करुणा का स्रोत्र प्रवाहित कर दिया।

(पहला दृश्य)

[**स्थल**—राजा कुणिक अजातशत्रु सिंहासन पर बैठे हैं, साथ ही उनके अमात्य वर्षकार भी विराजमान हैं। इतने में ही एक सैनिक राज दरबार में एक आवश्यक सूचना लेकर उपस्थित होता है।

पात्र—अजातशत्रु, सैनिक, अमात्य वर्षकार, देवदत्त।]

सैनिक—महाराज की जय हो!

अजातशत्रु—कहो क्या समाचार लाये हो सैनिक।

सैनिक—महाराज आज भी लिच्छवियों ने हमारा सामान गंगा से पार उतरने ही नहीं दिया।

अजातशत्रु—(कुछ रुक कर) (उत्तेजना में) (वर्षकार से) मैं देख रहा हूं अमात्य, वैशाली के लिच्छवी मगध शासन के सुसंचालन में बाधा डाल रहे हैं।

अमात्य—वे आपके मातामह से संबंधित हैं राजन् और फिर उनकी शक्ति भी·····।

अजातशत्रु—(बात काटते हुए क्रोध में) मैं अपने प्रति किये गये अत्याचार को कदापि न पनपने दूंगा। अब तो एक ही उपाय है – युद्ध।

अमात्य—किन्तु यह कार्य इतना आसान नहीं है, राजन् !

अजातशत्रु—तो दूसर भी क्या है ?

अमात्य—श्रमण गौतम कहते हैं, लिच्छवियों की एकता आसानी से नष्ट नहीं की जा सकती। और जब तक वे एक हैं हम युद्ध में सफल न हो सकेंगे।

अजातशत्रु—तुम क्या कह रहे हो अमात्य ! मेरे सेनापति, मेरी सेना, मेरे सहोदर क्या एक नहीं हैं ? क्या वैशाली के ७,७०७ क्षत्रिय कुल हमारी तुलना में अधिक सशक्त हैं ? मैं यह बात स्वीकार नहीं कर सकता।

अमात्य—नहीं, मैं ऐसा नहीं कहता किन्तु आक्रमण से पहले शत्रु की शक्ति को पूर्ण रूपेण समझना होगा। इसके लिये गुप्तचरों को शत्रु की शक्ति का परिचय पाने की चेष्टा होगा।

अजातशत्रु—चलो, इस बात से तो मैं सहमति व्यक्त करता हूं। और संभाषण करो अमात्य।

अमात्य—वैशाली की अनूठी नगरी वैभव व ऐश्वर्य की खान है। वहां के सभी गणराजा संथागार में एकत्र हो कर राजनीतिक, सैनिक और कृषि संबंधी विषयों पर विचार करते हैं।

अजातशत्रु—वह तो हम भी अपने सेनापति, सभापति, राजगुरु की सहायता से किया करते हैं।

अमात्य—किन्तु यथेष्ट अन्तर है, राजन् ! वे अष्टकुलगण के प्रतिनिधि होते हैं, वे जनता के प्रतिनिधि हैं और हम राजमहल में राजकुल की आज्ञा और मंत्रणा को मानते हैं।

अजातशत्रु—कहीं तुम्हारी राज्य निष्ठा तो नहीं बदल गयी, अमात्य ? (क्रोधित स्वर में)

अमात्य—क्षमा करें राजन्, मेरी राज्य निष्ठा पर तनिक भी संदेह न करें। मैं तो केवल सत्य और स्पष्ट भाषण कर रहा था।

अजातशत्रु—क्या अभी कुछ और शेष है ?

अमात्य—महाराज वे अपनी पवेणी पोथी के अनुसार ही अपराधी को दंडित करते हैं। अपने कुल महत्तरों, स्त्रियों व रमणियों का वे आदर करते हैं। राज्य में आने वाले सभी श्रमण साधुओं की वे रक्षा करते हैं और चैत्यों की अर्चना करते हैं।

अजातशत्रु—बस करो अमात्य ! मेरा माथा पीड़ा से दुःख रहा है।

(Sad music–दुखद संगीत)

(इतने में ही राजगुरु देवदत्त का प्रवेश)

देवदत्त—महाराज की जय हो !

अजातशत्रु—आसन ग्रहण करें, गुरुवर !

देवदत्त—क्या कोई गंभीर प्रसंग चल रहा है, राजन् !

अजातशत्रु—हाँ भंते, अंग देश की विजय और कोसल पर स्वाधिकार के बाद मगध सम्राट की आकांक्षा वैशाली को जीतने की बलवती हो चली है ।

अमात्य—हाँ भंते, आप ही महाराज को समझायें कि महावीर की जन्मभूमि वैशाली को जीतना इतना आसान नहीं ।

देवदत्त—केवल एक ही उपाय है – कूटनीति ।

अजातशत्रु—अब मेरे जीवन का सपना है 'वैशाली' । उसकी एकता ही उसकी शक्ति का कारण है, अतः मेरे जीवन का ध्येय है उसकी एकता को समूल नष्ट करना । (पैर पटकते हुए दृढ़ स्वर में)

अमात्य — मेरे लिये क्या आदेश है, राजन् !

अजातशत्रु — मेरा आदेश है महामात्य वर्षकार – जाओ और वैशाली में जैसे भी बन पड़े फूट डालो । जब तक तुम ऐसा करने में समर्थ न हो मगध को अपना मुँह न दिखाना ।

अमात्य — जैसी आज्ञा, राजन् !

देवदत्त — वर्षकार अमात्य का सिर मुंडवा कर मुंह पर कालिख पोतकर गंगा पार वैशाली की सीमा में पटक दिया जाये और चारों ओर राज्य में यह घोषणा कर दी जाये कि मगध राजा कुणिक अजातशत्रु ने इसे मगध राज्य से बाहर निकाल दिया है ।

(सैनिक व वर्षकार चले जाते हैं)

देवदत्त — हा – हा – हा (हर्ष ध्वनि करता है) यह हुई न कूटनीति । सांप भी मर जाये और लाठी भी न टूटे ।

अजातशत्रु — भंते आपके परामर्श ने मेरी आंखों के सपने 'वैशाली' के दृश्य दिखाने शुरू कर दिये हैं । मैं आपका आभार प्रकट करता हूं गुरुदेव !

देवदत्त — राज्य और शासन आज क्षत्रिय वंश यदि कूटनीति के साथ चलायेगा तभी सम्राट बनने का सपना आंखों में तैर सकता है युवराज ! आगे-आगे देखो क्या होता है । (अट्टहास)

(दूसरा दृश्य)

[**स्थल** — वैशाली की राज्य सीमा पर दो पहरेदार पहरा दे रहे हैं। (पदचापों की आवाज) शाम के शान्त वातावरण में गंगा की लहरों की आवाज स्पष्ट सुनी जा सकती है। इसी बीच प्रहरी दूर गंगा तट पर एक गठरी पड़ी देखते हैं।

पात्र — दो सीमा प्रहरी एवं अमात्य वर्षकार।]

पहला प्रहरी — तनिक सावधान! वह देखो दूर गंगा तट पर क्या पड़ा है। कोई गठरी सी दीख पड़ती है।

दूसरा प्रहरी — चलो वहीं चलकर देखें (दोनों निकट जाते हैं)

पहला प्रहरी — अरे यह तो कोई ब्राह्मण है। ओह, इसके हाथ बँधे हैं..... देखो नाड़ी भी चल रही है या नहीं।

(दोनों कान लगाकर सुनते हैं)

दूसरा प्रहरी — ओह – पहले इसके पेट का पानी निकालो। (दोनों खींचते हैं)

पहला प्रहरी — बड़ा भारी है।

दूसरा प्रहरी — अब इसके हाथ खोलकर बैठाने की कोशिश करो शायद यह कुछ बता सके।

(खोलते हैं इतने में ही डुगडुगी पर आवाज)

सुनो – सुनो – सुनो, मगधवासियों सुनो! मगध राजा कुणिक अजातशत्रु ने अपने महामन्त्री ब्राह्मण वर्षकार को मगध राज्य की सीमा से निष्कासित कर दिया है और यह राजा की आज्ञा है कि कोई भी उसे अपने घर में अथवा बाहर किसी प्रकार की शरण न दे। सुनो – सुनो – सुनो।

(अकेले में जाकर)

पहला प्रहरी — सुना तुमने ये मगध देश का महामन्त्री वर्षकार है।

दूसरा प्रहरी — तुमने यहां हमारे होते हुये यहां आने का (वर्षकार से) साहस कैसे किया।

वर्षकार — ओह, आप लोग कौन हो? मैं बहुत भूखा हूं, कुछ अन्न.....। (हाथ जोड़ता है)

पहला प्रहरी — सहायता! वह भी शत्रु की!

वर्षकार — (दुःखी स्वर में) एक असहाय दीन पुरुष की सहायता करना तो मनुष्य का कर्तव्य है। मैं भी तुम्हारी तरह एक जीवित व्यक्ति हूं।

दूसरा प्रहरी — तनिक इसकी बात तो सुनें। यह हमारी राज्य सीमा में आया क्यों ?

ब्राह्मण — मैं स्वयं नहीं आया, डाल दिया गया हूं। अभी तुमने घोषणा सुनी ना, मित्र !

पहला प्रहरी — लेकिन वैशाली की सीमा में ही क्यों ?

दूसरा प्रहरी — अंग में फेंक सकते थे, कोसल में भी फेंक सकते थे।

पहला प्रहरी — बस अब अधिक विवाद में न पड़ो। मैं हथकड़ी पहनाता हूं। .....चलो, इसे गणराजा चेटक के दरबार में ले चलें।

(लड़खड़ाते हुए ब्राह्मण दोनों सैनिकों के साथ चल पड़ता है।)

(तीसरा दृश्य)

[स्थल — वैशाली के संथागार में गणपति चेटक के समक्ष वर्षकार को उपस्थित किया जाता है।]

प्रहरी — महाराज की जय हो।

चेटक — सीमा के क्या समाचार हैं ?

पहला प्रहरी — गणपति, ये मगध देश के महामन्त्री वर्षकार हैं। हमने इन्हें गंगा तट पर पाया है।

दूसरा प्रहरी — ये बड़ी ही दीन हीन अवस्था में तट पर पड़े थे, महाराज !

पहला प्रहरी — हमने डुगडुगी पर यह घोषणा सुनी कि मगध के राजा कुणिक अजातशत्रु ने इन्हें देश निकाला दे दिया है। इनके लिए क्या आदेश है, गणपति !

चेटक — हूं .....तो ये कोई साधारण व्यक्ति नहीं।..... सम्राट बिम्बिसार के ये चतुर कूटनीतिज्ञ और प्रज्ञावान व्यक्ति हैं और अब कुणिक ने इनकी यह दशा बना दी। हा – हा – हा। आप ही बतायें ब्राह्मण श्रेष्ठ आपकी उपमा तो बृहस्पति और शुक्राचार्य से की जाती है। हम क्या सहायता कर सकते हैं आपकी ?

वर्षकार — (विनीत स्वर में) आप कृपालु हो गणपति ! मुझे अब अपनी शरण में ले लीजिये। कुणिक अजातशत्रु ने मुझे मगध राज्य से निष्कासित कर दिया है।

चेटक — मगध राज्य की साम्राज्य लिप्सा, निरंकुशता और अत्याचारी शासन को तुम पहचान हो, वर्षकार ! तुम्हारा क्या दोष था ब्राह्मण ? तुम्हारी यह हालत ?

वर्षकार — (बीच में ही) कोई दोष नहीं। देवदत्त के शासन पर बढ़ते प्रभाव ने ही मेरी यह गति बना दी।

चेटक — शत्रु देश की सीमा से आये व्यक्ति को मैं शरण तो नहीं दे सकता।

वर्षकार — तो क्या मैं ब्राह्मण होने के नाते आपके राज्य में एक छोटी सी कुटिया और भिक्षा में मिले दो मुट्ठी अनाज के दाने को भी पाने योग्य नहीं।

चेटक — (स्वगत) बिना किसी कारण राजा श्रेणिक बिम्बिसार के शासन-काल से चले आ रहे महामात्य का निकाल दिया जाना·····अवश्य ही इसमें कोई गम्भीर चाल है।

वर्षकार — व्यर्थ ही शंका को न पनपने दें। मैं तो केवल कुटिया भर जमीन चाहता हूं, आपके देश में सभी योग्य और कुलीन जनों को आश्रय मिलता है गणराज। दुःख में पड़े व्यक्ति को शरण देना ही तो आपके स्वभाव की विशेषता है।

चेटक — पुराणों के अनुसार ब्राह्मण सदैव ही पूजनीय है अतः मैं तुम्हारा अनादर नहीं करता, किन्तु तुम पर विश्वास भी नहीं करता। तुम्हें दुःखी और जाति से ब्राह्मण जानकर, हां, तुम्हें भिक्षावृत्ति के हेतु दान पात्र और कुटिया बनाने योग्य भूमि दे सकता हूं।

वर्षकार — धन्य हो महाराज !

(सिपाही हथकड़ी खोल देते हैं)

(चौथा दृश्य)

[**स्थल** — (अमात्य वर्षकार अपनी कुटिया में साधु वेश में वेद पाठ कर रहे हैं। प्रातः कालीन समय है। बाहर पक्षियों का कलरव है तथा द्वार पर वैशाली का एक भद्र नागरिक भिक्षा देने हेतु आतुर खड़ा है।

पात्र — वर्षकार व नागरिक]

ओऽम भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं
भर्गो देवस्य धीमही धियो योनः प्रचोदयात्।

वर्षकार — आओ भद्र, प्रवेश करो।

नागरिक — भिक्षा ग्रहण करें, ब्राह्मण श्रेष्ठ।

वर्षकार — (भिक्षा ग्रहण करते हैं) कहो वत्स, सब कुछ कुशल मंगल तो है ना !

नागरिक — हां गुरुदेव, अब तो कुछ ठीक हो चला है।

वर्षकार — मैंने जो मंत्र बताया था उसको रोज पढ़ लेते हो ना।

नागरिक — हां गुरुदेव !

वर्षकार — उसी से तुम्हारा मंगल होगा।

नागरिक — हां मैं भी यही सोचता हूं।

वर्षकार — मेरी बात मानो, तुम यदि पुत्र का भला चाहते हो तो इस प्रकार सबसे मिलकर बातचीत न किया करो। ये सब तुम्हारे शत्रु हैं।

नागरिक — जैसी आज्ञा, गुरुदेव !

वर्षकार — जब तुम्हारे ऊपर विपत्ति पड़ी, पुत्र असमय ही विक्षिप्त हो गया, कोई तुम्हारे पास सहायता के लिये आया ? नहीं ना।

नागरिक — हां गुरुदेव, मैं जानता हूं आपने ही मेरी कुसमय सहायता की। मैं आपकी बात अवश्य मानूंगा।

वर्षकार — मुझे वैशाली के कोषागार की सही स्थिति व सैन्य बल की क्षमता का पूरा विवरण तो तुमने दे ही दिया था। बस अन्त में पुनः निवेदन करूंगा, अन्य गणों से मिलकर मंत्रणा करना छोड़ दो।

नागरिक — जैसी आज्ञा गुरुदेव ! (झुक कर प्रणाम करता है) (प्रस्थान को तत्पर) अब आज्ञा दें, गुरुदेव !

वर्षकार — ठहरो भद्र, वह तुम्हारे मित्र अपने पुत्र को उच्च शिक्षा दिलाना चाहते थे ना ! उनसे कहना उसे तक्षशिला भेज दें।

नागरिक — क्या वाराणसी व श्रावस्ती ठीक न रहेंगे ?

वर्षकार — यह बात नहीं, तक्षशिला में उच्च शिक्षा प्राप्त करने के पूरे साधन हैं। वहां के आचार्य भी दिशा प्रमुख कहलाते हैं। उनके चरणों में बैठकर वेद, व्याकरण, दर्शन, नक्षत्र-विद्या, कृषि, इन्द्रजाल, संगीत, नृत्य, चित्रकला, धनुर्विद्या की शिक्षा लेने के लिये सारे जम्बूद्वीप से विद्यार्थी पहुंचते हैं।

नागरिक — अच्छा, अब आज्ञा दें, प्रणाम विप्रश्रेष्ठ।

वर्षकार — आयुष्मान भव !

(नागरिक के चले जाने के बाद वर्षकार का एकान्त में अट्टहास)

वर्षकार — ···हो गये न अलग-अलग। सन्देह की हलकी सी दीवार ने इनके मन में फूट डाल दी। जहर घोल दिया ना मैंने····· मेरा उद्देश्य पूर्ण हुआ, हा – हा – हा·····जब एक दूसरे से सन्देहवश मिलेंगे ही नहीं तो क्या करेंगे मंत्रणा ? हर गण अलग-अलग शाखाओं में बंट जायेगा और समाप्त हो

जायेगा गणतंत्र। कटीले शूलों पर बिछेगा वैशाली गणतंत्र। अब चलूं। मगध में युद्ध की योजना भी तो बनानी है। हा – हा – हा·····वैशाली और उसकी नगर वधुयें।

(पांचवां दृश्य)

[युद्ध स्थल का दृश्य : Sound effect से युद्ध का दृश्य उपस्थित। अश्वों, हाथियों के चिंघाड़ने की आवाज। रथ की आवाज।

पात्र — काल कुमार, चेटक, अजातशत्रु

निवेदन — कुछ ही दिनों बाद राजा कुणिक अजातशत्रु ने अन्याय पूर्वक चतुरंगिनी सेना लेकर वैशाली पर आक्रमण कर दिया। आरंभ में वैशाली की ओर से युद्ध करने वाले ७,७०७ गणराजाओं की विजय होती रही और कुणिक की विजय की आशा उत्तरोत्तर निराशा में परिणत होने लगी।]

कालकुमार — देवार्य, पहले आप ही अपने दौहित्र पर प्रहार करिये।

चेटक — पहला प्रहार जब तुम्हारी ओर से होगा तभी मैं प्रहार करूँगा।

कालकुमार — लो मेरी प्रत्यंचा का बाण।

चेटक — कालकुमार यदि प्राण बचाना चाहते हो तो रणभूमि छोड़ कर चले जाओ।

कालकुमार — क्षत्रिय कभी कर्म भूमि से नहीं लौटा करते, देवार्य।

अजातशत्रु — अब देखो यह महाशिलाकंटक प्रक्षेपणास्त्र।

[निवेदन — देखते ही देखते वैशाली की सेना में भगदड़ मच गयी। गणपति चेटक भी अवश होकर बचे खुचे योद्धाओं के साथ वैशाली नगर के भीतर चले आये और नगर के सभी द्वार बंद करवा दिये। इस प्रकार मगध की सेना वैशाली के चारों ओर जा पहुंची।]

(Sound effect से मगध सेना की जीत का हर्ष)

सैनिक — बढ़ते जाओ सैनिक, हमारी जीत हुयी है। बढ़ते जाओ-बढ़ते जाओ।

(छठा दृश्य)

[निवेदन — जीत की खुशी ने कुणिक अजातशत्रु को मदोन्मत्त बना दिया। (बीच में अजातशत्रु का स्वर : हा – हा – हा ! मेरा सपना साकार हुआ !) पिता को कारागृह में बंद कर वह स्वेच्छाचारी और निरंकुश हो गया।

नगर के दास हाट में विजित देश से लाये गये बंदी युवक और युवतियाँ पशुओं की तरह बँधे हुये खड़े थे। पुरुष की बलिष्ठता और स्त्री का रूप लावण्य एवं अंग सौष्ठव किसी मिट्टी के खिलौने की तरह मोल भाव किया जाता था।

स्थल — Sound effect से बाजार का दृश्य, घोड़ों की आवाज, स्त्री पुरुषों की बातचीत करते मोलभाव आदि ।]

(क्रेताओं के बीच वार्तालाप)

एक क्रेता — इसको देख भाई, बड़ी आकर्षक दीख पड़ती है । रोम-रोम से रूप राशि टपक रही है । ओह··· यह बलिष्ठ शरीर मेरे गृह कार्य के लिये अच्छा है ।·····आगे देख ···· आगे बढ़ ।

दूसरा क्रेता — वो सुन वह तन्वंगी केवल ७० रौप्य कार्षापण मूल्य में ही बिक रही है····· सुनता नहीं ···· वो व्यापारी खरीद लेगा ।

तीसरा क्रेता — हा – हा – हा ! ये देखो इस बलिष्ठ पुरुष की जंघा और बाहु····· शत्रु देश की सेना के ये वीर अब मेरे काम आयेंगे । चल उठ अब बैठने का काम नहीं । और – और ये तन्वंगी अपने रूप से मेरा हृदय प्रसन्न करेगी ।

(सातवां दृश्य)

[**निवेदन** — दूसरी ओर अजातशत्रु ने अपने पिता सम्राट बिम्बिसार और मां चेलना को अनावश्यक हस्तक्षेप के डर से सलाखों के पीछे बन्द कर दिया ।

स्थल व समय — कारागृह का दृश्य, प्रातः का समय, चिड़ियाँ बोल रही हैं किंतु दुःखी वृद्ध पिता का मन क्षोभ से भरा है ।]

चेलना — सुबह होने को है, आर्यपुत्र !

बिम्बिसार — किसके जीवन में आती है अब सुबह····· कारागृह की बंद कोठरी·····ओह इससे तो मर जाना अच्छा था ।

चेलना — ऐसा न कहें राजन् । हर क्षण प्रतिपल बदलता रहता है । क्या जाने अजात को सद्बुद्धि आ ही जाये ।

बिम्बिसार — मेरा दोष क्या था बस इतना बता दो चेलना ।

चेलना — आप याद करिये आर्यपुत्र, बचपन में ही किसी ने बताया था कि वह पितृहन्ता सिद्ध होगा और मैं ····· मैं उसे अशोकवृक्ष के नीचे कूड़े के ढ़ेर पर डाल आयी थी तब आप ही उसे पुत्र मोह में उठा लाये थे । उसकी अंगुली के घाव को आप सहलाया करते थे । आप ही दोषी हैं उसके ।

बिम्बिसार — मैं न जानता था कि भविष्य वाणी सत्य होगी । अब तो इस शरीर का भार अपने कंधे पर उठाये हूं । अब और जी कर क्या करूँगा । लेकिन चेलना तुम क्यों मेरे कारण इस कारागृह में बंद हो ?

चेलना — क्या कह रहे हैं, आर्यपुत्र। मेरा जन्म केवल आपके लिये ही हुआ है। इन चरणों में ही मेरा सब कुछ है। बस अब अलग न करें मुझे। (रोती है)

बिम्बिसार — अब जीवन की शाम ढल चुकी है। दीपक अब बुझना ही चाहता है।

(इतने में ही कारागृह में दूर से आ रही आवाज सुन पड़ती है।)

(सावधान – महाराज कुणिक अजातशत्रु पधार रहे हैं।)

बिम्बिसार — (विक्षिप्त अवस्था में) वह आ गया देखो वह आना ही चाहता है। वो·····वो मुझे मारना ही चाहता है। पर मैं उसके हाथों क्यों मरूँ ? मैं अपने ही आप····· (सिर कारागृह की दीवारों से फोड़ लेता है)

(चेलना रोकने का प्रयास करती है)

चेलना — यह क्या कर रहे हैं, आप ? रुक जाइये, रुक जाइये, आर्यपुत्र ! आह·····इनकी नाड़ी गति तो मंद पड़ती जा रही है। प्रहरी ! प्रहरी ! अब राजवैद्य को बुलाओ। (रोने का स्वर)

(इतने में ही अजातशत्रु का प्रवेश)

अजातशत्रु — ·····माँ क्या हुआ पिता जी को·····ओह मैनें बहुत देर कर दी। ·····मैनें सोचा था अपने कृत्यों के लिये क्षमा माँग कर पिता को सादर महल में ले आऊँगा। किन्तु नियति नियम तेरा बड़ा ही कड़ा है। ओह·····देव मैं हृदय की जलन को किससे कहूं। काश अगर मेरा बच्चा पहले जन्म ले लेता जिसने मेरे हृदय में करुणा और ममता का स्रोत बहाया – धिक्कार है अजातशत्रु ! तुझ पर धिक्कार है !

(दुखद संगीत के साथ दृश्य समाप्त)

(आठवां दृश्य)

[**स्थल** — कुणिक अजातशत्रु राजदरबार में गंभीर मुद्रा में बैठे हैं। पश्चाताप और दुख की लकीरें उनके चेहरे पर स्पष्ट हैं कि इतने में ही एक सैनिक एक शूद्र को जो कि काले रंग का है, जिसकी नाक चपटी और सिर मुंडा है, पकड़ कर लाता है।]

सैनिक — महाराज की जय हो।

अजातशत्रु — कहो क्या समाचार है, सैनिक। यह कौन है ?

सैनिक — यह शूद्र हमारा दोषी है।

अजातशत्रु — क्या दोष है इसका ?

सैनिक — महाराज यह नीच चांडाल हमारे हर काम में बाधा डाल रहा है। कहता है – यज्ञ न करो, युद्ध बंदियों को दासत्व से मुक्त करो।

अजातशत्रु — तुम कौन हो ? हमारे राज कार्य में इस प्रकार बाधा डालने का तुम्हारा क्या प्रयोजन है ? अपना परिचय दो।

हरिकेशबल — (मुस्कुराते हुए शांत भाव से कहता है) मैं केवल शुद्ध आत्मा हूं। श्रमण महावीर कहते हैं – न मैं क्षत्रिय हूं, न वैश्य, न शूद्र, और ना ही ब्राह्मण।

अजातशत्रु — यह तो कोई परिचय न हुआ, चांडाल। तुम चांडाल हो, और यह ज्ञान और उपदेश देने का अधिकार तुम्हें किसने दिया।

हरिकेशबल — क्षमा करें राजन्! ब्राह्मण होने से ही तो कोई पूजनीय नहीं हो जाता। यह तो केवल गुण हैं जो हमें पूजनीय बनाते हैं।

अजातशत्रु — यह क्या व्यर्थ की बकवास कर रहे हो ?

हरिकेशबल — नहीं राजन्! कुल गोत्र जाति के बंधन हमें ज्ञान जानने और महान बनने से नहीं रोकते। महावीर कहते हैं – 'व्यक्ति जन्म से नहीं कर्म से महान बनता है।'

अजातशत्रु — तुम्हारा कौन सा कर्म तुम्हें महान बना रहा है ?

हरिकेशबल — मैं टूटी खटिया ठीक करके अपना जीवन यापन करता हूं और मेरे पास प्रेम, दया और करुणा की निधि है जो मुझे महान बनाती है।

अजातशत्रु — व्यर्थ का संभाषण न करो, चांडाल।

हरिकेशबल — जब अबोध अन्जान पशुओं की बलि हविअंग्नि में चढ़ा दी जाती है, उनकी चीत्कार से वातावरण में जो कोलाहल पैदा होता है वह मेरे प्राणों को बींध देता है। क्या उनके बलि देने से आपके चक्रवर्ती सम्राट बनने की भावना को विशेष बल मिलता है ?

अजातशत्रु — जो विधि और विधान ब्राह्मणों द्वारा प्रतिपादित किया गया है उसी प्रकार यज्ञ सम्पन्न करने की चेष्टा की जा रही है।

हरिकेशबल — नहीं, महाराज! महावीर कहते हैं – 'जिसे तुम मारना चाहते हो वो भी तो तुम जैसा ही प्राणी है।'

अजातशत्रु — सैनिक का कहना है, तुम बंदी बनाये गये दास-दासियों को भी छुड़ाना चाहते हो चांडाल ?

हरिकेशबल — आपके युद्ध ने उन्हें दास बना दिया है और अब युगों-युगों तक

वे दासत्व के बोझ से दबे रहेंगे। उनका दोष इतना ही है कि वे हारे हुये देश की प्रजा हैं।

अजातशत्रु — लेकिन युद्ध के नियम तो यही कहते हैं।

हरिकेशबल — ओह ! यह नियम तो आपके ही बनाये हुये हैं। महावीर का यही संदेश है – 'अगर तुझे युद्ध ही करना है तो स्वयं से कर। इस वाह्य युद्ध से तुझे क्या मिलेगा ?'

अजातशत्रु — क्या पूछना चाहते हो, चांडाल ? मुझे ८४ हजार लोगों के वध से क्या मिला ? अहं, विजय श्री। जो क्षत्रिय का धर्म है।

हरिकेशबल — लेकिन राजन्, आप केवल एक क्षत्रिय नहीं, राजा भी हैं। शान्ति चाहने वाली जनता को आपसे क्या मिला ? वैशाली के वैभव को मिटाकर आपको क्या मिला ?

अजातशत्रु — हाँ चांडाल, मैनें अपने भाइयों को खो दिया, पिता को बंदी बनाकर मार डाला। माँ भी महावीर संघ में मुझे छोड़कर चली गयी। यह राज्य – यह सम्पत्ति – यह सुख वैभव – किसके लिये ? ओह मैं अत्याचारी, क्रूर, निरंकुश, स्वेच्छाचारी !

हरिकेशबल — हाँ, हाँ, वही। अपने चारों ओर दृष्टि डालो, स्वयं को यही कहता पाओगे।

अजातशत्रु — मेरा मन पिता की मृत्यु के बाद से ही विकल है। अब तुम्हारी बातों ने मुझे जगा दिया है।

हरिकेशबल — देर से भी राह मिले तो कोई हानि नहीं।

अजातशत्रु — मैं अपराध बोध का शिकार हो गया हूं। यह युद्ध, ये हत्यायें, मुझमें जीवन से वितृष्णा पैदा कर रही है। ओह, शान्ति की खोज में मैं भटक रहा हूं। यह राज्य सिंहासन मुझे चैन न लेने देगा। ले चलो हरिकेशबल अपने गुरू के पास, जो त्याग और करुणा की मूर्ति हैं। शायद अब वहीं मुझे सच्चे ज्ञान और दृष्टि की प्राप्ति हो सके।

(संगीत के साथ समाप्त)

(आकाशवाणी लखनऊ से दिनांक ८-३-१९९२ को रात्रि १० – १०.३० बजे प्रसारित)

——

८७ वर्ष पूर्व

अंग्रेजी जैन गजट से

The Jaina Gazette (New Series), Vol. II No. 7, October, 1905 :

A Mahomedan estimate of a Jaina layman

Abul Fazl, the well-known Prime minister to Emperor Akbar, thus describes an ideal Jain layman in his Ayeen Akbery: "Those of this sect, who engage in the affairs of the world are called Serawuck (Sravaka). A Sravaka observes the following rules :- Never to injure the innocent. Not to tell untruths on the following occasions, as they consider them as great sins : 1. In bearing witness. 2. In breach of trust. 3. In praise, or 4. dispraise of a virgin. 5. Concerning an ox. Not to soil his hands with dishonesty of any kind. Not to covet another man's wife. To keep only as much wealth as is necessary for the purpose of life and to bestow the rest in charity. When on a journey, to travel daily only stated distances. To calculate the necessary wants of each day and live accordingly. Not to go where a woman has been burnt with her husband, nor to a place where a malefactor has suffered death. To set apart two *Ghuries* of every day for devotion. To sleep only during the appointed time. To abstain from food and drink, day and night on the 8th, 14th, 15th, and 28th of the moon and the next morning to feed the poor before breaking the fast. Every night before he goes to sleep, to examine himself upon the above eleven points. * * * * He constantly attends to the reading of the divine books; bestows charity; makes it a rule to praise the virtuous; never speaks ill of any one; and is particularly respectful in his conversation concerning princes. He marries one who is his equal. He is ever afraid of doing evil. Wherever he dwells, he conforms to the laws of the land. He chooses a habitation that is neither very puplic, nor totally secluded from society. His house hath not more than two or three doors and windows. He

settles in a good neighbourhood, and associates with the virtuous. He is dutiful to his father and mother. He flies from city or country which is invaded by foreign troops. He regulates his expenses by his income; dresses suitable to his rank in life. He studies the divine books and follows their precepts implicitly. He never eats but at stated meals. He is not covetous of riches. He is affable and charitable to a guest, *jetty* (yati, an ascetic) and those who are sick. He is not vain of his person, nor of his words. He is desirous of being instructed in every profession. He travels not at improper times, nor in a country where he cannot exercise his religion. He never engages in a war without knowing whether he is going against his friends or his enemies. He partakes in the misfortunes of his relations. He has a grateful sense of favours conferred on him. His deportment is pleasing to every one. He is diffident in his manner, courteous to all, and upright in every transaction of his life. He exerts himself in the affairs of others and keeps sensual gratifications under the command of reason."

बा० बिहारी लाल जैन द्वारा अंग्रेजी में रचित जैन वैराग्य शतक जो जैन गजट सितम्बर १९०५, अक्टूबर १९०५ और जनवरी – फरवरी १९०६ में क्रमशः प्रकाशित हुआ था, शोधादर्श में क्रमशः दिया जा रहा है :

Jaina Vairagya Shataka

1. In this transient life of sorrow and distress, it is *Virtue* alone that can give us eternal bliss. *Jiva Atma,* being ignorant of it, fails to practise it as it is ordained in the *Shastras.*

2. Man hopes in vain that to-day, to-morrow, or even a year hence, he may be happy by gathering wealth, but forgets that his life is ebbing away even as water, held in the palm of the hand diminishes drop by drop.

3. Whatever good you would do to-morrow, do that to-day without hesitation: for there are many obstructions in your path, and it is not good to procrastinate.

4. Behold the changing nature of this world; what you see in the morning often undergoes great change in the evening.

5. Do not remain asleep; awake and be watchful. Bear in mind that you are pursued by three great enemies, Disease, Old age, and Death. What rest can you, then, enjoy here ?

6. The wheel of Time, holding the two buckets of day and night, is pulled by two bullocks—the sun and the moon—, and is emptying the water of life from the well of the world.

7. There is no art or device, no charm or amulet, and no medicine or anything else which can save this life from the bite of the serpent, Death.

8. The bee of time is continually sucking the honey of life from our lotus like bodies in the pool of this world.

9. Death follows man like a shadow. Sow, therefore, the seed of good deeds, so that you may reap the fruits of blessing here after.

10. *Jiva Atma* suffers various kinds of distresses as the result of its bad actions done either in this life or in previous births.

11. Father, mother, son, wife, and other relations, all go to the crematory and return after offering a handful of water to the deceased.

12. Your cherished sons, your intimate friends, your dear wife and your hard-earned money shall all remain here, virtue alone will accompany you and will supply you with every kind of comfortable articles in your next life.

13. *Jiva Atma*, being entangled in the net of *Karma*, is confined in the prison of this world and is obliged to remain sometimes in the dark and hell-like chamber of one body and sometimes in that of the other. When released, only by practising *Virtue*, it will go to the region of Nirvana (Salvation).

14. Sensual enjoyment , affection of relations, and the love of friends are all as transitory as drops of dew.

15. Where are your health and power gone, where your youth and beauty ? Oh ! they were all transient, and so they passed away before your eyes.

16. It is the effect of *Karma* that *Jiva Atma* has lived in the dark and filthy drain of the womb for an infinite number of times.

17. Life is subject to disease and death. It struggles like a fish on sand. Men see it, but no one tries to find the key of deliverance.

18. From the effects of *Karma, Jiva Atma* is subject to numberless changes and it often happens that he who was a father in the previous life is now born as a son, and she who was a mother is now reborn as a wife, and vice versa.

19. There is no caste or tribe, no place or position, and no mode of birth from which life has not sprung forth and passed away times without number.

20. It is the enjoyment of earthly prosperity and sensual pleasures that makes you suffer various sorts of troubles. Alas ! you have never tried *to know yourself,*

21. "Live in the world but be not of it," is the precept taught by our ancient *Rishis* (saints). To act upon this precept is the only way to deliverance.

22. Rest assured that no one in this world can do good or evil to you; you yourself reap the sweet or sour fruits of your good or bad actions

23. The body is mortal while *Atma* is immortal and ever lasting; the connection between these two is only by means of *Karma*; so becoming subservient to the body, *Atma* should not do evil deeds.

24. When you are unable to ascertain the relationship between yourself and your family, and also unaware of their goal after this life, how can, then, your connection with it be justified ?

25. All things in this world are subject to change : bodies vanish like bubbles, our relations and friends depart one after another like passengers in a train, and our youth disappears like the flash of lightning.

26. We can only practise *Virtue* so long as our bodies are sufficiently strong and senses in good order *i. e.*, so long as the signs of old age have not appeared, disease has not subdued our body, and death has not overtaken us.

(To be continued)

समणसुत्तं

हिन्दी पद्यानुवाद (क्रमशः)—श्री प्रकाश चन्द्र जैन 'दास'

३. संघ सूत्र

२५. संघो गुणसंघाओ, संघो य विमोचओ य कम्माणं।
दंसणणाणचरित्ते, संघायंतो हवे संघो ॥१॥
गुण समूह ही संघ है नर ! सत्य इसको जानिये।
संघ हर्ता कर्म दल का तथ्य यह पहचानिये॥
जिससे दर्शन ज्ञान अरु चारित्र में मन ध्यान है।
रत्न-त्रय का यह समन्वय संघ की पहचान है॥१॥

२६. रयणत्तयमेव गणं, गच्छं गमणस्स मोक्खमग्गस्स।
संघो गुण संघादो, समयो खलु णिम्मलो अप्पा ॥२॥
रत्न-त्रय ही 'गण' कहे जाते हैं तत्त्व विचार में।
मोक्ष पथ के गमन को कहते हैं 'गच्छ' आचार में॥
गुण समूह के गठन से ही संघ निर्मित मानिये।
और समय का अर्थ निर्मल आत्मा ही जानिये॥२॥

२७. आसासो वीसासो, सीयघरसमो य होइ मा भाहि।
अम्मापितिसमाणो, संघो सरणं तु सव्वेसिं ॥३॥
संघ आश्वासन है देता भीत नर को सर्वदा।
निश्छल सरल व्यवहार से विश्वास भर देता सदा॥
शीत गृह के तुल्य वह माता पिता सम प्यार दे।
भय त्याग संघ की शरण लो सबको वही आधार दे॥३॥

२८. नाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंसणे चरित्ते य।
धन्ना गुरुकुलवासं, आवकहाए न मुंचंति ॥४॥
संघ स्थित साधु मुनि ही ज्ञान अधिकारी रहें।
चारित्र दर्शन में हो स्थिर निर्लिप्त अविकारी रहें॥
धन्य मानव रत्न-त्रय से युक्त रहते जागते।
पूर्ण जीवन में गुरुकुल वास वे न त्यागते॥४॥

२९. जस्स गुरुम्मि न भत्ती, न य बहुमाणो न गउरवं न भयं।
न वि लज्जा न वि नेहो, गुरुकुलवासेण किं तस्स ? ॥५॥
गुरु भक्ति जिस जन में नहीं मन में नहीं सम्मान है।
गौरव का भी अनुभव नहीं भय का तथा अवसान है॥

जिसने लज्जा त्याग दी नेह भी न जिसके पास है।
श्रद्धा रहित उस मूढ़ जन का व्यर्थ गुरुकुल वास है ॥५॥

३०. कम्मरयजलोहविणिग्गयस्स, सुयरयणदीहनालस्स ।
पंचमहव्वयथिरकण्णियस्स, गुणकेसरालस्स ॥६॥
कर्म रज जल राशि से निर्लिप्त कमल समान है।
दीर्घ नाल अरविन्द की श्रुत रत्न का सद्ज्ञान है।
पंच महाव्रत उस कमल की कर्णिका स्थिर जानिये।
और केसर मध्यवर्ती सद्गुणों को मानिये ॥६॥

३१. सावगजणमहुयरपरिवुडस्स, जिणसूरतेयबुद्धस्स ।
संघपउमस्स भद्दं, समणगणसहस्सपत्तस्स ॥७॥
चहुं ओर उसके भ्रमर श्रावक गण हैं मंडराते सदा।
विकसित उसे जिन सूर्य की आभा है करती सर्वदा ॥
पत्र शत दश श्रमणगण ही जिसके हैं जाते कहे।
संघ रूपी कमल वह कल्याणमय निशदिन रहे ॥७॥

४. निरूपण सूत्र

३२. जो ण पमाणणयेहिं, णिक्खेवेण णिरिक्खदे अत्थं ।
तस्साजुत्तं जुत्तं, जुत्तमजुत्तं च पडिहादि ॥१॥
प्रमाण नय निक्षेप से करता न जब नर शोध है।
उसको हो पाता कभी तत्त्वार्थ का न बोध है ॥
मानता अयुक्त को वह युक्त मिथ्या ज्ञान से।
युक्त को अयुक्त माने वह भ्रमित अनुमान से ॥१॥

३३. णाणं होदि पमाणं, णओ वि णादुस्स हिदयभावत्थो ।
णिक्खेओ वि उवाओ, जुत्तीए अत्थपडिगहणं ॥२॥
वस्तु स्थिति को देखिये तो ज्ञान ही प्रमाण है।
अभिप्राय ज्ञाता के हृदय का नय का उपमान है ॥
ज्ञान के उपाय जो निक्षेप उनको मानिये।
युक्ति पूर्वक अर्थ को ही ग्रहण करना जानिये ॥२॥

३४. णिच्छयववहारणया, मूलभेया णयाण सव्वाणं ।
णिच्छयसाहणहेउं, पज्जयदव्वत्थियं मुणह ॥३॥
निश्चय तथा व्यवहार नय इस भांति से पहचानिये।
सब नयों के मूल में यह ही युगल नय जानिये ॥

पर्याय द्रव्यार्थिक नयों को भी हे मानव जान लो।
निश्चय के साधन के लिए अस्तित्व इनका मान लो ॥३॥

३५. जो सिय भेदुवयारं, धम्माणं कुणइ एगवत्थुस्स।
सो ववहारो भणियो, विवरीओ णिच्छयो होइ ॥४॥
एक वस्तु अखण्ड में जो विविध धर्म विचार है।
स्याद् भेद उपचार करता वह ही नय व्यवहार है॥
अखण्डता का वस्तु में देता जो अनुभव ज्ञान है।
प्रकट निश्चय नय से वह ही पूर्ण तथ्य विधान है ॥४॥

३६. ववहारेणुवदिस्सइ, णाणिस्स चरित्तं दंसणं णाणं।
ण वि णाणं ण चरित्तं, न दंसणं जाणगो सुद्धो ॥५॥
ज्ञानियों के अर्थ में उपदिष्ट नय व्यवहार से।
चारित्र दर्शन ज्ञान से वे युक्त सर्व प्रकार से॥
निश्चय से दर्शन ज्ञान अरु चारित्र उनमें न रहे।
सर्वथा वे शुद्ध हैं ज्ञायक यथा जाते कहे ॥५॥

३७. एवं ववहारणओ, पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण।
णिच्छयणयासिदा पुण, मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥६॥
निश्चय नय से आत्मा के ज्ञान हेतु सर्वदा।
व्यवहार नय प्रतिषेध करते विज्ञ जन रहते सदा॥
लेकर शरण निश्चय की पा लेते हैं अनुभव ज्ञान को।
प्राप्त कर लेते मुनि जन नित्य पद निर्वाण को ॥६॥

३८. जह ण वि सक्कमणज्जो, अणज्जभासं विणा उगाहेउं।
तह ववहारेण विणा, परमत्थुवएसणमसक्कं ॥७॥
अनार्य शिक्षा पूर्ण होती है नहीं सम्भव यथा।
उपयोग उन की कथित भाषा का न हो यदि सर्वथा॥
परमार्थ का उपदेश भी सम्भव है हो पाता तभी।
उपयोग जब व्यवहार नय करते हैं उपदेशक सभी ॥७॥

३९. ववहारोऽभूयत्थो, भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु, सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥८॥
होता नहीं व्यवहार नय से सत्य अर्थ विचार है।
और निश्चय से प्रकट सत्यार्थ का आधार है॥

आत्म भावों की जभी सत्यार्थ द्वारा सृष्टि हो।
प्राप्त निश्चित उस से जग जीवों को सम्यग्दृष्टि हो ॥८॥

४०. निच्छयमवलंबंता निच्छयतो निच्छयं अजाणंता।
नासंति चरणकरणं, बाहिरकरणालसा केई ॥९॥
यद्यपि निश्चय का अवलम्बन कई नर ठानते।
शुद्ध निश्चय से नहीं निश्चित स्थिति पहचानते॥
शिथिल बाह्याचरण से आलस्य मय हो कर तदा।
स्वच्छन्दता से नष्ट करते आचरण अपना सदा ॥९॥

४१. सुद्धो सुद्धादेसो, णायव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण, जे दु अपरमे ठिदा भावे ॥१०॥
शुद्ध निश्चय से मिले ज्ञातव्य जो संदेश है।
परम भावी दार्शनिकों को ग्राह्य वह आदेश है॥
किन्तु अपरम भाव में स्थित जो जो जगत में नर रहें।
उन को वचन उपदेश के व्यवहार नय से ही कहें ॥१०॥

४२. निच्छयओ दुण्णेयं, कोभावे कम्मि वट्टई समणो।
ववहारओ य कीरइ, जो पुव्वठिओ चरित्तम्मि ॥११॥
सत्य ही अति कठिन है निश्चित स्थिति का जानना।
किस भाव में कोई श्रमण है तथ्य यह पहचानना॥
पूर्व स्थिति चारित्र की जिन श्रमण गण की हो यदा।
कृति कर्म जो व्यवहार नय से ही करें निश्चित सदा ॥११॥

४३. तम्हा सव्वे वि णया, मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा।
अन्नोन्ननिस्सिया उण, हवंति सम्मत्तसब्भावा ॥१२॥
निज पक्ष में प्रतिबद्ध जो नय उन को मिथ्या जानिये।
परस्पर सापेक्ष विधि से तथ्य को पहचानिये॥
सापेक्षता से सब नयों में जब समन्वय व्याप्त हो।
दर्शन तभी हों सत्य के अरु भाव सम्यक् प्राप्त हो ॥१२॥

४४. कज्जं णाणादीयं, उस्सग्गावायओ भवे सच्चं।
तं तह समायरंतो, तं सफलं होइ सव्व पि ॥१३॥
ज्ञान आदि कार्य सब उत्सर्ग से एवं तथा।
सत्य होवें जगत में अपवाद द्वारा सर्वथा॥
इस लिए इस भान्ति से यह कार्य करना चाहिये।
जिसके द्वारा आप निश्चित सफलता को पाइये ॥१३॥ (क्रमशः)

शोध सारांश

प्रमुख जैनाचार्यों की योग दर्शन को देन

—शोधकर्त्री : कु० अरुणा आनन्द

(दिल्ली विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध, १९८७)

मानव सभ्यता के आदिकाल से ही मानव में अपने सर्वतोन्मुखी कल्याण के लिए चिन्तन व प्रयास करने की प्रवृत्ति जागरित हो गयी थी जो सभ्यता के विकास के साथ-साथ विकसित होती गयी। भारतीय चिन्तन-परम्परा को प्रमुखत: दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है— १. वैदिक एवं २. श्रमण। वैदिक परम्परा में वेद, उपनिषद्, महाभारत, गीता आदि ग्रन्थ तथा सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त आदि दर्शन आते हैं। श्रमण परम्परा में जैन व बौद्ध – दो मुख्य परम्पराओं का समावेश होता है। बौद्धधर्म का प्रचार विदेशों में तो बहुत हुआ, परन्तु अपनी जन्मभूमि भारत में यह अधिक प्रचलित न हो सका जबकी जैन धर्म का प्रचार भारत में ही अधिक हुआ। परिणामस्वरूप भारत में श्रमण-परम्परा के नाम से जैन परम्परा आज भी प्रचलित है।

यद्यपि भारतीय संस्कृति की वैदिक, बौद्ध एवं जैन – इन तीनों प्रमुख धाराओं का परम लक्ष्य एक ही है – क्लेशों से मुक्ति पाकर आत्म-साक्षात्कार करना अर्थात् मोक्ष अथवा निर्वाण की प्राप्ति करना, तथापि इन सब की चिन्तन पद्धति एवं मौलिक विचारधारा में भिन्नता होने से इनकी मोक्ष प्राप्त करने की साधना-पद्धति में भी पार्थक्य दृष्टि-गोचर होता है।

प्रागैतिहासिक काल से ही आत्म-विकास हेतु आध्यात्मिक साधना के रूप में 'योग' का प्रमुख स्थान रहा है। यद्यपि वेदों, उपनिषदों महाभारत, गीता आदि सभी धार्मिक ग्रन्थों में 'योग' का उल्लेख हुआ है तथापि 'योग' को व्यवस्थित एवं सम्यक् स्वरूप प्रदान करने का श्रेय योगसूत्र के रचयिता महर्षि पतंजलि को है। वर्तमान युग में योग दर्शन से तात्पर्य पतंजलि के सूत्रों से ही माना जाता है। अत: 'योग दर्शन' का प्रतिपादक ग्रन्थ 'पातंजल योग सूत्र' ही है। उक्त ग्रन्थ में दार्शनिक पक्ष (केलव तत्त्व-चिन्तन) की अपेक्षा साधना को और आत्मिक उन्नति के क्रमिक मार्ग को ही प्रधान रूप से प्रतिपादित किया गया है। जहाँ तक जैन परम्परा का सम्बन्ध है, इसमें भी

सैद्धान्तिक पक्ष की अपेक्षा आचार-पक्ष को अधिक महत्व दिया गया है। जैन तीर्थंकरों के जो उपदेश हैं, वे भी साधनामय जीवन में आगे बढ़ते हुए उच्चतम स्थिति पर तत्त्वों का साक्षात्कार करने के अनन्तर ही दिए गए हैं। इस प्रसंग में यह विशेष उल्लेखनीय है कि प्राचीन भारतीय साधकों ने संकीर्णता की सदा उपेक्षा की है और उदारतापूर्वक विविध सम्प्रदायों में प्रचलित योग-क्षेमकारी सिद्धान्तों और साधना के मार्गों को बिना किसी संकोच के स्वीकार करते हुए विचारों का आदान-प्रदान किया है। अत: स्वाभाविक है कि वर्णन-शैली में भिन्नता होने पर भी 'पातंजल योग' एवं 'जैन योग' की पद्धतियों में परस्पर समानता या अविरोध हो।

महर्षि पतंजल ने 'योग' शब्द को जिस (समाधिपरक) अर्थ में ग्रहण किया है, प्राचीन जैन वाङ्मय में, आगम साहित्य में उसका उस अर्थ में प्रचलन नहीं था। जैन दर्शन में 'योग' शब्द कायिक, वाचिक एवं मानसिक प्रवृत्तियों के अर्थ में स्वीकृत है। जहाँ तक मोक्षप्राप्ति का सम्बन्ध है, वह दैहिक और भौतिक आसक्ति के उच्छेद से ही सभव है। इसीलिए भारत में विशेषत: जैन परम्परा में, 'तप' को मोक्षोपयोगी साधना के रूप में स्वीकार किया गया। आगे चलकर 'ध्यान' रूप आभ्यन्तर तप की श्रेष्ठता स्वीकार करने पर ध्यान व समाधि की प्रक्रिया को ही 'योग' अर्थ में मान्यता दी जाने लगी। जैनागमों में भी योग-साधना केअर्थ में 'ध्यान' शब्द ही अधिक प्रयुक्त हुआ। जैन साधना में ज्ञानयोग, क्रियायोग व ध्यानयोग का सुन्दर समन्वय दृष्टिगोचर होता है जो अन्यत्र दुर्लभ है। भक्ति को भी जैन साधना में स्थान मिला है, किंतु उसे जैन तत्त्व चिन्तन पद्धति के अनुरूप ढ़ालने का यत्न किया गया है। जैन तीर्थंकरों व प्राचीन संतों की साधना में उक्त साधना के प्रयोगात्मक पक्ष का दर्शन किया जा सकता है।

प्राचीन शास्त्रों में जैनाचार्यों द्वारा यह उद्घोषणा की गई थी कि वर्तमान पंचमकाल में ध्यान की उच्चकोटि (शुक्ल ध्यान) सम्भव नहीं है क्योंकि इस काल में ध्यानोपयोगी उत्तम संहनन (शरीर) नहीं मिलता। श्वेताम्बर परम्परा ने यह मान्यता प्रस्तुत की कि सामान्य श्रावक प्रशस्त ध्यान का अधिकारी नहीं है, तो दूसरी तरफ दिगम्बर परम्परा ने गृहस्थ के लिए धर्मध्यान (ध्यान की निम्नकोटि) को तो स्वीकार किया, किंतु शुक्ल-ध्यान (ध्यान की उच्चतर स्थिति) का पूर्णत: निषेध कर दिया। प्रथम शताब्दी के प्रमुख जैनाचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में बार-बार लिखा है

कि पंचमकाल में भले ही शुक्लध्यान न हो पर धर्मध्यान (ध्यान की निम्न कोटि) अवश्य होता है। इन सब आगमिक प्रतिपादनों के कारण ही लोगों में यह धारणा बलवती हो गई कि उच्चकोटि का ध्यान सिद्ध नहीं हो सकता। फलस्वरूप लोगों में निराशा का उत्पन्न होना स्वाभाविक था और संभवतः यही कारण था कि जैन परम्परा में पातंजल योग-साधना का व्यवस्थित प्राचीन ग्रन्थ लिखा नहीं गया। यद्यपि जैनागमों में यत्र-तत्र ध्यान-विषयक प्रचुर-सामग्री उपलब्ध होती है, किन्तु उस पर व्यवस्थित व सर्वांगीण जैन योग-साधना पद्धति का भवन खड़ा नहीं किया जा सकता। योग (अध्यात्म-साधना) का आधार "आचार" है क्योंकि आचार से ही योगी के संयम में वृद्धि होती है एवं समता (वीतरागता) का विकास होता है। अतः जैन योग साधना का जो प्रतिपादन प्राचीन ग्रन्थों में हुआ है, वह आचार-शास्त्र (चारित्र) के रूप में है। बाद में गृहस्थ साधक के "आचार" को गौण कर मुनिचर्या पर अधिक बल दिया जाने लगा और मुनिचर्या के प्रमुख अंग वैराग्य व ध्यान की विशेष व्याख्या प्रस्तुत करने वाले अध्यात्म परक ग्रन्थों का प्रणयन प्रारम्भ हुआ।

जैन परम्परा में अध्यात्म-साधना विषयक विपुल साहित्य की रचना हुई। परन्तु खेद का विषय है कि उक्त सामग्री भी सर्वांशतः आज उपलब्ध नहीं है। अधिकांश का तो नाम ही शेष रह गया है। आगम युग से लेकर वर्तमान युग तक प्राचीन-मध्य एवं अर्वाचीन तीनों कालों में अध्यात्म साहित्य पर अनेक विद्वानों ने अपनी लेखनी चलाई, किन्तु जैन योग-साधना के व्यवस्थित व सर्वांगीण स्वरूप को प्रस्तुत करने वाले स्वतंत्र व मौलिक ग्रन्थ लिखने की परम्परा का सूत्रपात करीब ८-९ वीं शती के आस-पास हुआ। संभवतः वह भी पातंजल योगसूत्र व सम्बद्ध साहित्य व उसकी विचारधारा की लोकप्रियता से प्रभावित होकर किया गया हो। उक्त ग्रन्थकारों में सर्वप्रथम व सर्वाग्रणी आचार्य हरिभद्र हैं जिन्होंने पातंजल योगसूत्र तथा उसकी योग साधना से सम्बद्ध सभी पक्षों को ध्यान में रखते हुए, उसी के समकक्ष जैन योग-साधना का विविध परिप्रेक्षों में व्यवस्थित एवं समन्वयात्मक स्वरूप प्रस्तुत किया। आचार्य हरिभद्र ने जो सरणि प्रस्तुत की, उसका परवर्ती आचार्यों ने सोत्साह अनुकरण किया। उन आचार्यों में आचार्य शुभचन्द्र, आचार्य हेमचन्द्र एवं उपाध्याय यशोविजय के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन आचार्यों में आचार्य शुभचन्द्र दिगम्बर परम्परा के प्रतिनिधि हैं, शेष श्वेताम्बर परम्परा के। उक्त चारों विद्वान अपने-अपने युग के विशिष्ट प्रतिनिधि रहे हैं।

उपाध्याय यशोविजय को जैन दर्शन व न्याय के विकास की पराकाष्ठा वाले युग की अन्तिम कड़ी कहा जाए तो अनुचित न होगा। उन्होंने आचार्य हरिभद्र द्वारा प्रवर्तित चिन्तन परम्परा को आगे बढ़ाते हुए जैन योग साधना का व्यापक व विस्तृत निरूपण भी किया है जो मौलिक और आगमिक परम्परा से सम्बद्ध होने के साथ-साथ तुलनात्मक एवं समन्वयात्मक दृष्टिकोण वाले अध्येताओं के लिए भी नवीनतम एवं उपयोगी सामग्री प्रस्तुत करता है। जिस प्रकार सूत्र शैली में निबद्ध महर्षि पतंजलि के योग ग्रन्थ के गूढ़तम तत्त्वों को समझाने के लिए महर्षि व्यास भोज, वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु आदि अनेक आचार्यों ने भाष्य एवं टीकाओं की रचना की उसी प्रकार उपाध्याय यशोविजय ने भी पतंजलि के योग सूत्र एवं आचार्य हरिभद्र के योग ग्रन्थों को समझाने हेतु अनेक व्याख्यापरक ग्रन्थों की रचना की।

उक्त दोनों आचार्यों (हरिभद्र एवं यशोविजय) के मध्य काल में प्रादुर्भूत आचार्य शुभचन्द्र एवं आचार्य हेमचन्द्र के योग ग्रन्थों का अध्ययन किए बिना जैन योग साधना का निरूपण एकांगी प्रतीत होता है। इन दोनों आचार्यों ने राजयोग (अष्टांगयोग) हठयोग और तंत्रयोग का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है। समग्र रूप से विचार करने पर प्रतीत होता है कि उक्त चारों आचार्य जैन साधना के आधार स्तम्भ हैं। इनकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इन चारों आचार्यों ने अपने-अपने समय में प्रचलित योग की विभिन्न प्रणालियों से तत्कालीन जनता को दिग्भ्रमित होने से बचाने तथा साम्प्रदायिक भेद को मिटाने के लिए लोकरुचि के अनुरूप योग का समन्वयात्मक एवं अभिनव रूप जनता के समक्ष प्रस्तुत किया। अन्य आचार्य इन चारों का किसी न किसी अंश में अनुगमन करते प्रतीत होते हैं। अनेक आचार्य इन्हीं चारों आचार्यों द्वारा उपस्थापित विचार धारा के ऋणी दृष्टिगोचर होते हैं। इसलिए जैन व जैनेतर समाज में इन्हें अधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुई है।

वर्तमान युग में भी कुछ विद्वानों एवं जैन साधुओं ने जैन योग पर स्वतंत्र ग्रन्थ लिखे हैं तथा प्राचीन जैन योग-परम्परा का समीक्षात्मक रूप प्रस्तुत करने के उद्देश्य से कई शोध कार्य भी किये गये हैं। उदाहरण के तौर पर सन् १९६३ में आर. विलियम्स का "जैन योग" ग्रन्थ द्रष्टव्य है। इसमें "योग" को गृहस्थ व मुनि की समग्र आचार विधि के रूप में प्रतिपादित किया गया है। अनेक जैन साधुओं तथा अनेक विद्वानों ने जैन योग-साधना पद्धति का तुलनात्मक व समीक्षात्मक-शोधपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत करने का

(शेष पृष्ठ ७७ पर)

साहित्य-सत्कार

नित्य उपयोगी पाठ संग्रह :–संकलनकर्ता–स्व० पं० महेन्द्रकुमार अजमेरा, प्रकाशक–गट्टूलाल ताराचंद जैन अग्रवाल, पचेवर, जिला टोंक (राज०)-३०४५०७ पृष्ठ ६४

यह पाठ संग्रह पचेवर (राजस्थान) के सेठ गट्टूलाल ताराचंद जैन ने अपने पूज्य पिता श्री पांचूलाल जी की सप्तम पुण्य तिथि पर धर्म प्रभावना हेतु छपवाया है। पाठ संकलन सुरुचिपूर्ण यथा नाम तथा गुण है। पुस्तक ५० पैसा पोस्टेज भेजकर मंगाई जा सकती है।

बृहद्द्रव्य संग्रह :– आचार्य श्री नेमिचंद्र सिद्धान्तिदेव कृत, व्याख्याकार-क्षुल्लक धर्मानंद, प्रकाशक–श्री पाल जैन, २/२६, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२

आ० नेमिचंद्र सिद्धान्तिदेव कृत यह प्राकृत भाषा में ५८ गाथाओं का अतिप्रसिद्ध लघुकाय अध्यात्मिक ग्रंथ है। इस पर श्री ब्रह्मदेव ने संस्कृत में सारगर्भित विशद टीका लिखी है जिसका हिन्दी में छायानुवाद व्याख्याकार क्षुल्लक श्री धर्मानन्द जी ने प्रस्तुत किया है। ग्रन्थ में तीन अधिकार हैं। प्रथम अधिकार में छह द्रव्य और पांच अस्तिकायों का विशद वर्णन है। दूसरे अधिकार में सात तत्व नौ पदार्थों का निरूपण किया गया है तथा तीसरे अधिकार में मोक्ष मार्ग का निश्चय व्यवहार रूप वर्णन किया गया है। ग्रन्थ

(पृष्ठ ७६ का शेष)

प्रयास भी किया है। किन्तु सभी ग्रन्थों में से किसी भी ग्रन्थ में आचार्य हरिभद्र, आचार्य शुभचन्द्र, आचार्य हेमचन्द्र तथा उपाध्याय यशोविजय जो जैसे युग प्रतिनिधि विद्वानों के ग्रन्थों का सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत नहीं किया जा सका। वर्तमान युग में इन चार प्रमुख आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित योग को जानने की महती आवश्यकता है। यही कारण है कि "जैनयोग" का सर्वांगीण विवेचन करने हेतु इन चार प्रमुख जैन योगाचार्यों को प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में अध्ययन का विषय बनाया गया है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में पातंजल योग सूत्र तथा आचार्य हरिभद्र, आचार्य शुभचन्द्र, आचार्य हेमचन्द्र व उपाध्याय यशोविजय के योग ग्रन्थों में वर्णित जैन योग के प्रमुख विषयों का विवेचन करते हुए दोनों परम्पराओं में साम्य व वैषम्य दर्शाने का प्रयास किया गया है। इस सन्दर्भ में जैनाचार्यों की अभिनव दृष्टि को भी प्रस्तुत किया गया है। ★

की छपाई, गैट-अप व आवरण चित्र की कल्पना सुन्दर है। स्वाध्याय प्रेमी श्री बिशम्भर दास महावीर प्रसाद जैन सर्राफ, १३२५ चांदनी चौक, दिल्ली-११०००६, से पोस्टेज भेजकर ग्रन्थ प्राप्त कर सकते हैं।

पूजांजलि :– सम्पादक – पं० विमल कुमार जैन सोंरया, प्रकाशक – श्री शान्ति सौभाग्य ग्रन्थ प्रकाशन, ३६४/७९, सआदतगंज, लखनऊ

जिनाभिषेक के पाठ सहित संस्कृत की पूजाओं के इस संकलन में प्रत्येक छन्द के नीचे सरल हिन्दी में अर्थ दिया गया है जिससे संस्कृत अनभिज्ञ जन रचनाकार आचार्यों की भक्ति भावना को हृदयंगम कर सकें। पुस्तक के प्रारम्भ में प्रकाशन संस्था के संस्थापक तथा प्रस्तुत पुस्तक के भेंटकर्त्ता धर्मनिष्ठ सेठ श्री सौभाग्यमल जैन काला का जीवन परिचय तथा पूजा के महत्व पर पं० विमल कुमार जैन सोंरया की पांडित्य पूर्ण प्रस्तावना दी गई है। पुस्तक के प्रकाशन एवं वितरण के लिए श्री काला जी बधाई के पात्र हैं।

स्वास्थ्य विज्ञान :– ले० व प्रकाशक – श्री पन्नालाल "पाल", मच्छरदानी भवन, रींवा, पृष्ठ १००, मूल्य १० रु०

श्री पन्नालाल जैन कोई चिकित्सा विशेषज्ञ नहीं हैं किन्तु उन्होंने अपने ७५ वर्ष के दीर्घ जीवन के अन्तिम ४५ वर्षों में पहिले ३० वर्षों के विभिन्न रोगों से युवावस्था में ही रोग जर्जरित शरीर को स्वास्थ्य विज्ञान के साधारण नियमों तथा ऋतु अनुसार आहार-विहार का पालन करके पुनः निरोग किया है। रोगों एवं दवाओं से बचने के लिए अपने ४५ वर्षीय अनुभूत प्रयोगों पर आधारित यह पुस्तक उन्होंने जन साधारण के लाभार्थ लिखी है। पुस्तक पठनीय है तथा इसमें वर्णित स्वस्थ वृत्त के नियम स्वास्थ्य रक्षा के लिए उपयोगी हैं।

Bhava Pahud by Kundakundacharya, Translation and Commentary in English by Late Pt. Ajit Prasad, Edited by K.B. Jindal, and Published by A. I. Digamber Jain Mahasabha, Lucknow; Price Rs. 50/-; Pages 105 + XV.

"Pahuda" means the teachings of the Tirthankaras as imbibed and preached by the Ganadharas and carried down by the Acharyas from predecessor to successor. Bhava Pahuda is one of the eight Pahudas written in Prakrit by Bhagwat Kundakundacharya who is said to have flourished in the 1st century B.C. – A.D. The theme of this Pahuda or Treatise is Pure Soul Activity. Without pure thoughts, outward physical acts, austerities and penances are useless and do not lead to Nirvana.

This Book has been published as the XIVth volume of "The Sacred Books of the Jainas" series by Sri Bharatvarshiya Digambar Jain Mahasabha and its printing has been financed by the Sethi Trust of Sri Nirmal Kumar Jain Sethi.

The Book contains the original Prakrit Text, the Sanskrit rendering of each Gatha (probably by Srutasagara, the chief commentator of Kundakunda's works) and its English translation and commentary by the late Pt. Ajit Prasad of Ajitashram, Lucknow. The translation was written sometime in 1950 and the manuscript was salvaged by his son Sri K. B. Jindal from amongst the old diaries, memoirs and sundry writings of his father and has been ably edited by him. The manuscript had faded in these forty years and some of the commentaries which had become unintelligible had to be recast and redrafted as averred by the learned editor.

In the beginning of the Book, a note about the life and time of the Author Sri Kundakundacharya is given, which also appears to have been based on the authority of Srutasagara. According to this note, Kundakundacharya flourished in 40 B.C. and was also the real author of the great Tamil treatise Tirukural known as Tamil Veda. Scholars are not yet unanimous about the time of this Great Acharya but internal evidences suggest that he should have been a direct disciple of the last Srutakevali, Sri Bhadrabahu Swami, and should thus have lived, preached and written round about 350 B. C. Majority of the scholars also do not now ascribe the authorship of Tirukural to Kundakundacharya. His airborne journey to Videha Kshetra for removing theological doubts at the feet of Tirthankara Seemandhara Swami is also now regarded as pure myth.

The printing and get up of the Book is standard and the editor and the publishers have done a great service to Jainalogy by bringing out this publication. It would have added to its value if the transliteration of Sanskrit and Prakrit words into Roman had been checked, and a select bibliography and index appended.

—Ajit Prasad Jain

सुवर्ण संधी :– पिण्डस्थ ध्यान धारणेचा प्रयोग, संग्राहिका : क्षु० सुशील-मति माताजी व ब्र० नयनाताई, प्र० – श्री स्वाध्याय मंडल, लासुर्णे, १७/१०/१९९१, द्वितीयावृत्ति, पृ० २४+७ चित्र, मूल्य ५ रु०

ध्यान चार प्रकार का है। उसमें प्रथम प्रकार पिण्डस्थ ध्यान है। इसके विधिवत प्रयोग से जीवन को चिन्तारहित (Tensionless) किया जा सकता है, ऐसा सम्पादकों का मानना है। पुस्तिका सरल मराठी भाषा में है और सचित्र है। प्रस्तुति सुन्दर है।

धर्म मंगल की सम्पादिका प्रा० सौ० लीलावती जैन के सौजन्य से पुस्तिका प्राप्त हुई, जिसके लिए हम उनके आभारी हैं।

पर्व प्रज्ञा :– पुष्पांक ६, १९९२, सम्पादिका – सुश्री गीता जैन, प्र० – न्यू पब्लिकेशन्स, बम्बई, पृ० १४०, मूल्य २५ रु०।

पर्व प्रज्ञा का प्रस्तुत अंक श्रावकाचार पर है और उसमें ८ लेख गुजराती भाषा में, १२ लेख हिन्दी में तथा ३ लेख अंग्रेजी में हैं तथा गुजराती और हिन्दी में श्रावकों के आचार के सम्बन्ध में परिचर्चा/मत भी दिये गये हैं। डा० ज्योति प्रसाद जैन की पुस्तक Religion And Culture of the Jains से श्रावकाचार पर सुबोध विवेचन भी उद्धृत किया गया है। श्रावकों में धार्मिक चेतना जगाने के लिए विभिन्न स्रोतों से सुन्दर सामग्री का चयन किया गया है जिसके लिए गीता जी साधुवाद की पात्र हैं।

नवपद-साधना :– ले० व प्र० – श्री बीरभान जैन, टोहनामण्डी (हरियाणा), ९-२-१९९२, पृ० ५२

एक श्रावक द्वारा साधना हेतु अपने अनुभव के आधार पर श्री बीरभान जैन ने अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, ज्ञान, दर्शन, चरित्र और तप के नमस्कार जपन का विवेचन किया है। उक्त नवपद के जप द्वारा श्रीपाल की कुष्ठमुक्ति की कथा भी दी है। इस साधना का पंजाब-हरियाणा के स्थानक-वासी सम्प्रदाय में विशेष प्रचलन है।

पंजाब-हरियाणा क्षेत्र में मैनासुन्दरी और श्रीपाल की कथा एक लोक अनुश्रुति के रूप में प्रचलित है। स्वर्ण मन्दिर के नानक सागर से भी ऐसी ही कथा जुड़ी है।

प्रस्तुत पुस्तिका का सदुपयोग हेतु वितरण करने के लिए श्री बीरभान साधुवाद के पात्र हैं।

श्री अग्रवाल सभा, लखनऊ, स्वर्ण जयन्ती स्मारिका, वर्ष १९९०, प्रधान सम्पादक – श्री अजित प्रसाद जैन, पृ० २३२

स्मारिका में अग्रवालों की उत्पत्ति के विषय में स्वयं प्रधान सम्पादक महोदय के तथा भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, डा० राय गोविन्द चन्द्र, डा० (श्रीमती) स्वराज्यमणि अग्रवाल, डा० बुद्ध प्रकाश, सुश्री अमला अग्रवाल, श्री श्यामलाल जालान और वैद्य श्री निरंजनलाल गौतम के लेख उल्लेखनीय हैं। आग्रह यह है कि अग्रवाल जाति के मूलपुरुष राजा अग्रसेन थे और उत्पत्ति स्थान हरियाणा में स्थित अग्रोहा था।

राजा अग्रसेन के मिथक का आधार श्रीमहालक्ष्मीव्रतकथा और उरुचरितम् है जिनके रचनाकार अनाम हैं और रचनाकाल अज्ञात। इनके आधार से सर्वप्रथम भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने १८७१ ई० में अपने 'अग्रवाल जाति की उत्पत्ति' नामक लघु ग्रन्थ के माध्यम से इस मिथक का प्रसार किया और विगत १२० वर्ष में ही यह बद्धमूल भी हो गई।

हरियाणा के हिसार जिले में अग्रोहा को अग्रवालों की मूलस्थली मानने की पृष्ठभूमि में वह मिथक भी है। अग्रोहा से निकास के कारण 'अग्रवाल' नाम पड़ जाना सम्भव है। इसके लिए मध्य प्रदेश के जिला शाजापुर में अग्गर नामक स्थान भी विचारणीय है क्योंकि प्राचीन उल्लेख 'अग्गरवाल' नाम से भी मिले हैं। उत्तर प्रदेश का आगरा नगर भी मूल स्थान के रूप में जाना जाता रहा है। विगत २०० वर्षों में अग्रवाल बहुल क्षेत्र को देखते हुए अग्रोहा का निकास स्थान होना अधिक समीचीन प्रतीत होता है, तो भी अग्गर की सम्भावना को पूरी तरह से नकारना उचित नहीं प्रतीत होता।

विचार-प्रेरक सामग्री सम्यक् प्रकार से प्रस्तुत करने के लिए सम्पादक वृन्द साधुवाद के पात्र हैं।

—शशि कान्त

——

आभार

शोधादर्श में प्रकाशित निम्नलिखित सामग्री को विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं द्वारा साभार पुन: प्रकाशित किया गया है –

१. शोधादर्श-१४ से डा० शशि कान्त का 'जिनशासन और सामाजिक न्याय' – राष्ट्रधर्म (मासिक) (लखनऊ) में,

२. शोधादर्श-१५ से डा० कमला पन्त का 'जैन दर्शन में लेश्या एवं विज्ञान-सम्मत विद्युत्धारा : एक तुलनात्मक दृष्टि' का मराठी में अनुवाद – धर्म-मंगल (पाक्षिक) (जलगाँव) में,

३. शोधादर्श-१५ से ही श्री अजित प्रसाद जैन के सम्पादकीय 'कलिकाल सर्वज्ञ' और 'हस्तिनापुर क्षेत्र पर भी आतंक की काली छाया' का मराठी में अनुवाद – धर्ममंगल में,

४. शोधादर्श-१५ से श्री अजित प्रसाद जैन के सम्पादकीय, 'कलिकाल सर्वज्ञ' और 'यह कैसा जीर्णोद्धार' – तीर्थंकर (मासिक) (इन्दौर) में, सन्मति संदेश (मा०) (दिल्ली) में, और समन्वयवाणी (पा०) (जयपुर) में, तथा

५. शोधादर्श-१६-१७ से श्री अजित प्रसाद जैन का विचार-विन्दु 'पहला विवाह क्या विधवा विवाह ही नहीं था ?' – जैन प्रकाश (मा०) (दिल्ली) में।

इस सम्मान के लिए हम उक्त पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों के प्रति हृदय से आभारी हैं।

—शशि कान्त

——

तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ० प्र०
प्रगति प्रतिवेदन १९९१-९२

हमने समिति का वर्ष १९८७-१९९१ तक का प्रगतिप्रतिवेदन शोधादर्श अंक १५ (नवम्बर १९९१) में प्रकाशित किया था। उसके बाद की प्रगति का विवरण हम नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं।

समिति की विभिन्न प्रवृत्तियों का संचालन पूर्ण निष्ठा के साथ किया जाता रहा है।

हमारी समिति के वयोवृद्ध वरिष्ठ सदस्य श्री जिनेन्द्र चन्द्र जी कागजी का दिनांक ११-७-९२ को लखनऊ में निधन हो गया। आप श्री मुन्नेलाल कागजी जैन धर्मशाला ट्रस्ट के प्रमुख न्यासी थे तथा समिति के शोध पुस्तकालय की धर्मशाला परिसर में स्थापना में आपका मुख्य योगदान था। उनके निधन से स्थानीय समाज व हमारी समिति की अपूर्णीय क्षति हुई है। हम स्वर्गस्थ आत्मा को अपने श्रद्धासुमन अर्पित करते हैं।

आर्थिक प्रगति — समिति की आर्थिक स्थिति उत्तरोत्तर सुदृढ़ होती जा रही है। समिति का नियत जमा राशि के रूप में जमा ध्रुव फंड जो १-४-९१ को रु० ५,८१,४१४/- था वह १-४-९२ को बढ़कर रु० ६,५८,४६६/- हो गया है। वर्ष १९९१-९२ का आय-व्यय का विवरण तथा १९९२-९३ के बजट अनुमान संलग्न है।

शोध पुस्तकालय — वित्तीय वर्ष १९९१-९२ में हमारे शोध पुस्तकालय में ९९ पुस्तकों की वृद्धि हुई तथा पुस्तकों की कुल संख्या ३१९१ हो गयी जिनका कुल मूल्य रु० ५२,६०६/- है। पुस्तकालय में अधिकांश ग्रंथ धर्म व संस्कृति विषयक ही हैं और कई शोधार्थी विद्वान हमारे पुस्तकालय से सम्प्रति लाभ उठा रहे हैं।

शोधादर्श — हमारी समिति की चातुर्मासिक शोध पत्रिका शोधादर्श का नियमित प्रकाशन किया जा रहा है। पत्रिका में प्रकाशित कई

लेखों को उद्धृत कर सन्मति संदेश, समन्वयवाणी, तीर्थंकर, जैन प्रकाश, राष्ट्रधर्म और धर्ममंगल (मराठी) ने अपने पत्रों में पुनः प्रकाशित कर हमारी पत्रिका का सम्मान बढ़ाया है। हमारी शोध पत्रिका की प्रबुद्ध वर्ग में दिन प्रति दिन लोकप्रियता बढ़ती जा रही है। पत्रिका का स्तर उच्च बनाए रखने में इसके प्रधान सम्पादक डा० शशिकान्त तथा श्री रमाकान्त जैन का महती योगदान है जिसके लिए वे साधुवाद के पात्र हैं।

तीर्थंकर छात्र सहायता कोष — गत वित्तीय वर्ष में २८ छात्र-छात्राओं को रु० ८,८४३/- की अध्ययन-सहायता दी गई। इस कोष के संचालन में हमें श्री नरेश चन्द्र जी का महत्वपूर्ण सहयोग मिला है जिसके लिए हम उनके आभारी हैं।

महावीर जन कल्याण निधि — इस निधि से गत वर्ष गढ़वाल में आए भीषण भूकम्प के पीड़ितों के सहायतार्थ मुख्य मंत्री जी के राहत कोष में रु० ५००१/- के योगदान के अतिरिक्त दो विपन्न वृद्ध जनों को तथा ५ असहाय महिलाओं को चिकित्सा एवं वस्त्र आदि के लिए रु० ३८४२/- की सहायता प्रदान की गई। इस निधि के संचालन में डा० शशि कान्त का प्रमुख योगदान रहा है।

धार्मिक गोष्ठियाँ — भगवान महावीर स्वामी के कल्याणक दिवसों पर तथा अन्य धार्मिक पर्वों पर शोध पुस्तकालय में नियमित रूप से धार्मिक गोष्ठियाँ आयोजित की जाती रही हैं।

अन्त में मैं समिति के अध्यक्ष आदरणीय श्री सुमेरचन्द्र जी पाटनी, कोषाध्यक्ष श्री मोहन लाल सेठ, डा० शशि कान्त, श्री नरेश चन्द्र तथा श्री रमाकान्त जैन के प्रति अपना विशेष आभार प्रकट करता हूँ जिनका सहयोग समिति की विभिन्न प्रवृत्तियों के संचालन में मुझे निरन्तर मिलता रहा है।

—अजित प्रसाद जैन

तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ० प्र० — आय-व्यय विवरण 1991-92

		वास्तविक 1991-92	अनुमान 1992-93		वास्तविक 1991-92	अनुमान 1992-93
प्रारम्भिक शेष :–						
(i) ध्रौव्य निधि				शोध पुस्तकालय	5,422.30	10,000.00
(बैंक नियत जमा राशि)	5,81,414.00			शोधादर्श–प्रकाशन एवं वितरण	7,020.25	10.000 00
(ii) बैंक बचत खाता	58,594.85			तीर्थंकर छात्र सहायता कोष	8,843.00	10,000.00
(iii) नकद राशि	658.96	6,40,667.81	6,80,541.02	महावीर जन कल्याण निधि	8,133.00	10,000.00
समिति – सदस्यता शुल्क		1,000.00	2,000.00	साहित्य विक्रय केन्द्र	977.00	1,000.00
शोधादर्श – ग्राहक शुल्क आदि		785.00	1,000.00	साहित्य-भेंट प्रचार	1,273 50	1,000.00
दान-सहायता		285.00	500.00	साज-सज्जा	135.00	1,000.00
साहित्य विक्रय केन्द्र		1,702.50	1,000.00	अन्य व्यय, बैंक कमीशन आदि	29.37	500.00
शोध पुस्तकालय –						
(i) सदस्यता शुल्क व जमानत	460.00				31,833.42	43,500.00
(ii) ध्रुव फंड से प्राप्त ब्याज	3,600.00	4,060.00	4,400.00			
बैंक ब्याज (पु० ध्रुव फंड के ब्याज के अतिरिक्त)		40,826.63	41,000.00	**अन्तिम शेष**		
ध्रुव फंड में नियत खाता पुनर्नियोजन से वृद्धि		18,647.50	20,000.00	(i) ध्रुव फंड-6,58,466 96 (ii) बैंक ब.खा.- 21,630.90		
अग्रिम की वापसी (समिति सहायक द्वारा)		5,000.00	———	(iii) नकद राशि	1,043.16	6,81,141.02	7,06,941.02
		7,12,974.44	7,50,441.02		7,12,974.44	7,50,441.02

समाचार विविधा

देवगढ़ जीर्णोद्धार पर ५० लाख का व्यय – श्री भा० दि० जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी के दि० १९-९-९२ को श्री महावीर जी में सम्पन्न हुए अधिवेशन में बोलते हुए कमेटी के अध्यक्ष साहू अशोक जैन ने बताया कि **देवगढ़ तीर्थ स्थल के सुधार कार्यों पर कमेटी द्वारा ५० लाख रुपये खर्च किए गए हैं।** (वीर अंक ९ दि० ७-१०-९२ से साभार)

हमें यह जानकर बड़ा हर्ष हुआ कि पूरे देश में दि० जैन संस्कृति एवं कला के इस प्रमुख एवं अनुपमेय केन्द्र के जीर्णोद्धार-सुधार कार्यों पर यह विपुल राशि व्यय करके कमेटी ने पूरी निष्ठा (sincerity) के साथ ध्यान दिया। किन्तु इस राशि का एक बड़ा भाग अवश्य ही उन अनेक प्राचीन मूर्तियों एवं कलाकृतियों के नवीनीकरण के कार्यों पर हुआ होगा जिससे जीर्णोद्धार के नाम पर उनकी प्राचीनता पर ही प्रश्न चिन्ह लगा दिया गया है। हमारा भा० दि० जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी के आदरणीय अध्यक्ष जी से विनम्र निवेदन है कि वे समाज की जानकारी हेतु कमेटी के मुखपत्र "तीर्थ दर्शन" में व अन्य समाचार पत्रों में देवगढ़ क्षेत्र पर ५० लाख रु० की लागत से हुए सुधार कार्यों का विवरण प्रकाशित करा दें।

परिषद के अध्यक्ष कौन ? — वीर के अंक ९, दिनांक ७-१०-९२ के पृष्ठ ७-८ पर श्री भा० दि० जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी के श्री महावीर जी क्षेत्र पर सम्पन्न हुए अधिवेशन की रिपोर्ट प्रकाशित की गई है। पृष्ठ २८ पर लिखा है कि अधिवेशन में राजस्थान की पर्यटन एवं कला-संस्कृति मंत्री सुश्री पुष्पा जैन **अध्यक्ष अ० भा० दि० जैन परिषद** ·····तथा····· इस मौके पर **भा०दि० जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी के अध्यक्ष ज्ञानचन्द खन्दूका** ने भी विचार रखे।

वीर परिषद का मुखपत्र है तथा उससे अपने ही शीर्ष पदाधिकारी के नामोल्लेख में इस प्रकार की असावधानी की अपेक्षा नहीं की जाती। इसी अंक के पृष्ठ २ पर अंकित सूची में परिषद के अध्यक्ष जी का नाम श्री डालचन्द जैन तथा परिषद के महिला विभाग की अध्यक्ष का नाम सुश्री पुष्पा जैन दिया गया है तथा इसी समाचार में अन्यत्र भा० दि० जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी के अध्यक्ष का नाम साहू अशोक जैन दिया हुआ है।

हमने वीर के अगले अंक १०, दि० २२-१०-९२ का भी पारायण इस आशय से किया कि उपरोक्त गलती का भूल सुधार उसमें कर दिया गया होगा

परन्तु हमें यह देखकर बड़ा विस्मय हुआ कि ऐसा कुछ नहीं किया गया। कदाचित् परिषद के शीर्ष पदाधिकारियों तथा वीर के सम्पादकों को अपने ही पत्र को साद्योपान्त पढ़ने का अवकाश नहीं मिलता।

नीमच (म० प्र०) में विद्वत्संगोष्ठी — आचार्य कल्याणसागर जी महाराज के सान्निध्य में णमोकार महामन्त्र जाप्यानुष्ठान अमृत महोत्सव के अवसर पर णमोकार महामंत्र, अहिंसा एवं शाकाहार विषय पर एक संगोष्ठी का आयोजन २७-२८ सितम्बर, १९९२ को हुआ। संगोष्ठी के संयोजक डा० कपूरचन्द जैन (खतौली) थे। संगोष्ठी में डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल (जयपुर), डा० रमेश जैन (बिजनौर), डा० कमलेश (वाराणसी), डा० श्रेयांस जैन (बड़ौत), डा० जय कुमार (मुजफ्फरनगर), श्री अरुण शास्त्री (ब्यावर), पं० धर्मचन्द वैद्य (इन्दौर), पं० नेमीचंद (नौगांव), पं० जय कुमार शास्त्री (विजयनगर), पं० लाडली प्रसाद (सवाई माधोपुर), डा० शेखर (अहमदाबाद), डा० भास्कर (नागपुर) आदि देश के ख्याति-प्राप्त विद्वानों ने अपने शोध पत्र प्रस्तुत किये।

महावीर निर्वाणोत्सव पर गोष्ठी/सभा — ५ नवम्बर को तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र शोध पुस्तकालय में श्री अजित प्रसाद जैन की अध्यक्षता में भगवान महावीर के निर्वाण और दीपावली पर्व पर संगोष्ठी हुई।

पुन: ६ नवम्बर को लखनऊ की जैन मिलन की तीनों शाखाओं के सम्मिलित तत्त्वावधान में सभा हुई जिसकी अध्यक्षता भी श्री अजित प्रसाद जैन ने की, और जैन समाज के सभी सम्प्रदायों ने इसमें भाग लिया।

शोध-प्रगति

श्रीमती अलका अग्रवाल ने लखनऊ विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में प्राकृत मुक्तक काव्य **वज्जालग्गं** पर अपना शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया, तथा श्री रतनलाल जैन ने मेरठ विश्वविद्यालय में **जैन कर्म सिद्धान्त और मनोविज्ञान** विषय पर अपना शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया।

बधाई

२१-२२ अगस्त, १९९२ को कलकत्ता में श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा की पश्चिम बंगाल शाखा के अधिवेशन में शाकाहार, अहिंसा एवं जीव दया को समर्पित अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त डा० दीपचन्द जैन

अध्यक्ष, न्यूरोलॉजी विभाग, सफदरजंग अस्पताल, नई दिल्ली को 'सेठी ट्रस्ट' के सौजन्य से एक लाख रुपये का "आचार्य शान्ति सागर शाकाहार पुरस्कार" तथा जैन साहित्य की अद्वितीय सेवा के लिए वयोवृद्ध विद्वान पं० सुमेरचन्द्र दिवाकर, सिवनी, और जैन साहित्य का विदेशी भाषाओं में रूपान्तरण एवं प्रचार-प्रसार के लिये कलकत्ता विश्वविद्यालय के डा० सत्यरंजन बनर्जी को क्रमश: २१०००/- रुपये के "आचार्य वर्धमान सागर पुरस्कार" और "आचार्य विद्यासागर पुरस्कार" प्रदान किये गये। दिगम्बर जैन महासभा को अपने कार्यक्रमों को समाज के लिए उपयोगी बनाने के आशय से दिये गये सुझावों के लिए शोधादर्श परिवार के श्री अजित प्रसाद जैन को भी पुरस्कृत किया गया; श्री जैन ने पुरस्कार राशि सभा को ही समर्पित कर दी।

उक्त अवसर पर डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल द्वारा सम्पादित और जैन इतिहास प्रकाशन संस्थान द्वारा प्रकाशित ७०० पृष्ठीय "जैन समाज का वृहद इतिहास" पुस्तक का भारत सरकार के सूचना एवं प्रसारण मन्त्री श्री अजीत पांजा द्वारा विमोचन भी किया गया।

जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय के कुलपति डा० वी०आर० मेहता को राजनीति विज्ञान में मौलिक अनुसंधान में विशिष्ट योगदान हेतु विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा "स्वामी प्रणवानन्द पुरस्कार" से सम्मानित किया गया।

श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर ने राजस्थान विश्वविद्यालय के कम्यूनिकेशन ब्यूरो के सदस्य-सचिव एवं पत्रकारिता के सहायक प्रोफेसर डा० सजीव भानावत को उनकी शोधकृति "सांस्कृतिक चेतना और जैन पत्रकारिता" पर ११,०००/- रुपये का "श्री प्रदीप कुमार रामपुरिया पुरस्कार" तथा मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय के जैन विद्या एवं प्राकृत विभाग के अध्यक्ष डा० प्रेम सुमन जैन को उनकी कृति "जैन धर्म और जीवन मूल्य" पर ५,०००/-रुपये का "चम्पालाल सांड" पुरस्कार प्रदान कर सम्मानित किया।

सुप्रसिद्ध उद्योगपति एवं समाजसेवी श्री रमेश चन्द्र जैन, भारत जैन महामण्डल के ४७वें अध्यक्ष निर्वाचित किये गये।

जैन मुख्य मन्त्री का सराहनीय कदम – मध्य प्रदेश में लाटरी का सरकारी जुआ समाप्त किया — प्राचीनतम काल से सप्त व्यसनों में सर्वाधिक लोकप्रिय व्यसन जुआ रहा है। वैदिक-महाभारत काल में भले ही जुए (द्यूत) को राज्याश्रय

प्राप्त रहा हो किन्तु बाद में राज्य स्तर पर जुए को प्रोत्साहन दिये जाने का कोई उल्लेख हमें ज्ञात नहीं। किन्तु कैसी विडम्बना है कि देश की आजादी के बाद विभिन्न राज्य सरकारों ने येन-केन-प्रकारेण धन संचय करने के लिए सरकारी लाटरियां संचालित करना प्रारम्भ कर दिया जिनसे लाखों-करोड़ों व्यक्तियों को रातोरात लखपती बनने का चस्का लग गया तथा उनकी गाढ़ी कमाई लाटरी-जुए की भेंट चढ़ने लगी।

हर्ष की बात है कि मध्य प्रदेश के मुख्य मंत्री माननीय सुन्दरलाल पटवा ने एक अध्यादेश जारी करके समस्त मध्य प्रदेश में लाटरी के अनैतिक व्यापार पर हर स्तर पर प्रभावी रोक लगा दी है। माननीय पटवा जी इस सराहनीय साहसिक कदम के लिए बधाई के पात्र हैं।

शोक संवेदन

७ अगस्त को अ० भा० दि० जैन परिषद के वरिष्ठ उपाध्यक्ष, सक्रिय सामाजिक कार्यकर्ता और मवाना नगरपालिका के भूतपूर्व अध्यक्ष पं० शील चन्द जैन शास्त्री का मवाना में निधन हो गया।

४ सितम्बर को आरा में जैन बालाविश्राम की अधिष्ठात्री ९५ वर्षीय श्रीमती ब्रजबाला जी का समाधिपूर्वक देहावसान हुआ। वह स्व० चन्दाबाई जी की अनन्य सहयोगी थीं और ७२ वर्ष उन्होंने आश्रम को अपनी अनवरत बहुमूल्य सेवाएं प्रदान कीं।

१५ सितम्बर को बरेली में प्रतिष्ठित शिक्षाविद् डा० कुन्दनलाल जैन का निधन हो गया।

२१ सितम्बर को सिनेमा दर्शकों को साफ-सुथरी पारिवारिक हिन्दी फिल्में प्रदान करने वाले फिल्म निर्माता ७८ वर्षीय श्री ताराचन्द बड़जात्या नहीं रहे।

उपर्युक्त सभी दिवंगत आत्माओं के प्रति शोधादर्श परिवार अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता है, दिवंगत आत्माओं की शान्ति के लिये प्रार्थना करता है और शोक संतप्त परिवारों को हार्दिक संवेदना व्यक्त करता है।

पाठकों की दृष्टि में

शोधादर्श की सामग्री पठनीय एवं ज्ञानवर्धक है। १६-१७ संयुक्तांक में 'महावीर और बुद्ध', 'मानव सभ्यता के आदि प्रस्तोता – ऋषभदेव', 'गोलाराड्–एक ऐतिहासिक विवेचन' लेख अतिसारगर्भित लगे। आप 'समणसुत्तं' का पद्यानुवाद भी प्रत्येक अंक में दे रहे हैं, यह कार्य स्तुत्य है।

—डा० निज़ामुउद्दीन
बालैनी (मेरठ)

शोधादर्श १६-१७ काफी अच्छी एवं ज्ञानवर्धक सामग्री से सज्जित संयुक्तांक है।

—डा० शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी
लखनऊ

यह हम लोगों के लिए सम्मान, गौरव और संतोष की बात है कि आप सभी मिलकर डाक्टर साहब (ज्योति प्रसाद जी) की स्वर्णिम कल्पना को साकार करने में लगे हुए हैं। हम लोगों की सारी शुभकामनाएं आप लोगों के साथ हैं।

—डा० विनोद कुमार तिवारी
रोसड़ा (समस्तीपुर)

शोधादर्श का अंक १५ तथा संयुक्तांक १६-१७ का आद्यान्त अवलोकन किया। दोनों अंक 'यथा नाम तथा गुण' को चरितार्थ करने में समर्थ हैं। इनमें पठनीय, संग्रहणीय, ज्ञानवर्द्धक एवं प्रेरक सामग्री प्रकाशित है। जिज्ञासुओं एवं शोधार्थियों के लिये शोधपूर्ण एवं शोधोपयोगी सामग्री की प्राप्ति इनकी विशेषता है।

—प्रो० शील चन्द्र जैन
छिन्दवाड़ा

शोधादर्श में प्रकाशित श्री ऋषभ जयन्ती एवं श्री महावीर जयन्ती के शुभावसरों पर दूरदर्शन एवं आकाशवाणी से प्रसारण का समाचार जिसमें आप सहित विविध विद्वानों ने भाग लिया, समग्र जैन समाज को गौरवान्वित करने वाली उपलब्धि है।

८७ वर्ष पूर्व के अंग्रेजी जैन गजट से Cruelty To Animals पुनर्प्रकाशित अंश आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं तथा आज तक मानव की क्रूरता को धिक्कार रहे हैं – मानो वे मूक पशु बेचारे, कुछ न कहते हुए भी कह रहे हैं – "हे मानव ! तू कुछ तो मानवता रख । हम कब से चिल्ला रहे हैं, चीख रहे हैं, लेकिन हमारी करुण पुकार तेरे निर्दयी, क्रूर, वहशी अमानवीय कानों तक क्यों नहीं पहुंच रही ····· । निर्दयता एवं क्रूरता के लिये तूने बदनाम तो पशु को कर रखा है, लेकिन तनिक विचार करके तो देख – वस्तुतः क्रूर कौन है ? ····· क्या कोई पशु ऐसा अत्याचार करता है जैसा तू मानव ! पशुओं पर कर रहा है ? वास्तव में, ऐसी दशा में तू मानव तो क्या, पशु भी कहलाने का अधिकारी नहीं ।"

आपका लेख 'मानव सभ्यता के आदि प्रस्तोता – ऋषभदेव' यूं तो स्वयं में सारगर्भित है; तथापि पुस्तक 'दिगम्बरत्व एवं दिगम्बर मुनि' की समीक्षा एवं दि पायनियर में प्रकाशित पत्रों के उद्धरण के सन्दर्भों में इस लेख का महत्व और भी बढ़ जाता है ।

'जैन पत्रकारिता पर कुछ प्रश्नचिन्ह ?' स्तम्भान्तर्गत की गई समीक्षाएं समीक्षक की पैनी दृष्टि, स्पष्टवादिता/बेबाक विवेचन एवं उचित दिग्दर्शन की परिचायक हैं ।

आपने जैन धर्म, दर्शन और संस्कृति पर Ahimsa Voice नवम्बर-जुलाई १९९१ अंक में प्रकाशित पुस्तकों की सूची की परिपूरक सूची एवं स्वयं आपको तथा तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र शोध पुस्तकालय, लखनऊ को प्राप्त होते रहने वाली पत्र-पत्रिकाओं की सूची प्रकाशित करके गुण-ग्राहकता-परक श्रेष्ठ सराहनीय कार्य किया है ।

—मनोज कुमार जैन 'निर्लिप्त'
अलीगढ़

शोधादर्श १६-१७ आद्योपान्त पढ़ा । अव्यवसायिक पत्रिकाएं आर्थिक झंझावातों को झेलते हुए भी चर्म चक्षुओं से दिव्य चक्षुओं तक ले जाती हैं ।

"गोलाराड् – एक ऐतिहासिक विवेचन" और "गोलशृंगार" क्रमशः श्री कुन्दन लाल जैन तथा श्री रामजीत जैन के आलेख गोलारमारे समाज के इतिहास पर पैनी शोधदृष्टि हैं । डा० यशवंत मलैया, कोलेरेडो यूनिवर्सिटी,

अमेरिका, का "मोल्लास" संदर्भ तर्क संगत एवं सबल प्रमाण है। रयधू कृत 'पासणाह चरिउ' में भी इस शब्द का उल्लेख है। दक्षिणात्य जैन साहित्य में भी इसकी खोज जरूरी है। सातवाहन-राष्ट्रकूट-कलचुरि संदर्भ कुछ नयी दिशा दे सकते हैं।

"न्याय वैशेषिक दर्शन और जैन दर्शन में परमाणु" आलेख गहन चिंतन और विश्लेषण से परिपूर्ण है। लेखिका श्रीमती कमला पंत साधुवाद की पात्र हैं।

—श्री अभय प्रकाश जैन
ग्वालियर

शोधादर्श के माध्यम से आप जैन संस्कृति और साहित्य के विषय में बड़ी पठनीय सामग्री देते हैं। बधाई!

—डा० नीलकन्ठ पुरुषोत्तम जोशी
वाराणसी

शोधादर्श हमेशा ही आद्योपान्त पढती हूं और अनुभव करती हूं कि स्व० डा० ज्योति प्रसाद जी ने बोया बीज वृक्ष बन गया है, पल्लवित हो रहा है। जो तर्क संगत जागरुकता एवं संशोधन के विभिन्न आयाम-क्षेत्र आप उजागर करते हैं, वह कार्य सचमुच अपने आप में एक मानस्तम्भ की तरह ऊँचा खड़ा हो गया है।

—प्रा० सौ० लीलावती जैन
जलगांव

शोधादर्श के संयुक्तांक १६-१७ में महत्वपूर्ण सामग्री का समावेश उपलब्ध है।

—श्री रत्न चन्द्र अग्रवाल
जयपुर

शोधादर्श १६-१७ में Reaction and Counteraction—Inhuman Act (Dr. R. P. Agarwal) और In Bad Taste (Mrs. Manjari Jain) पढा। पढकर बहुत से बिन्दु बेहद अच्छे लगे पर कुछ बिन्दुओं पर मिलने पर आपसे बातचीत करूँगी।

'मानव सभ्यता के आदि प्रस्तोता – ऋषभदेव' नामक लेख को पढकर काफी ज्ञान वर्धन हुआ। 'महावीर और बुद्ध' लेख भी बहुत रोचक लगा।

—श्रीमती मृदुला गोयल
मेरठ

शोधादर्श १६-१७ सचमुच ही शोधार्थियों/शोधों/शोधकृत निष्कर्षों/जैन विद्या समीक्षकों/अध्येताओं/सामान्य पाठकों का/को आदर्श है। इतनी प्रामाणिक सामग्री के प्रस्तुतीकरण हेतु पुन: एक बार बधाई स्वीकारें। श्री कुन्दनलाल जी का लेख सचमुच नये आयाम प्रस्तुत करता है, यह गहन अध्ययन का परिणाम तो है ही एक नवीनता भी लिए है। विद्वानों को एतद्-विषयक पूर्व धारणाओं पर रूढ़ न होकर नवीन तथ्यों के आलोक में विचार करना चाहिए। लगता है गोलालारे, गोलापूर्व, गोलसिंगारे का मूल स्थान दक्षिण ही रहा है। श्री जैन से भी निवेदन है कि वे अपने अध्ययन को आगे बढायें।

—डा० कपूर चन्द जैन
खतौली

शोधादर्श १६-१७ में जैन समाज को भ्रमित करने वाली जैन पत्रकारिता पर प्रश्न चिन्ह लगाकर तेरापन्थ दिगम्बर समाज को जागृत किया है। इस पत्रिका में सभी लेख शोधपूर्ण, सारगर्भित और सुरुचिपूर्ण हैं। यह पत्रिका भविष्य में सीढ़ी-सीढ़ी चढकर उच्च शिखर स्थापित करेगी व अनेकान्त पत्रिका के समान अपना नाम रोशन करती रहेगी।

—डा० हेमन्त कुमार जैन
वाराणसी

वास्तव में शोधार्थियों, अनुसंधानकर्ताओं व स्वाध्याय प्रेमियों के लिये यह परमोपयोगी पत्रिका है। ज्ञानार्जन के साथ-साथ वैज्ञानिक दृष्टि से चिन्तन-मनन की धारा को इससे विशेष बल मिलता है।

—श्री रतन लाल जैन
हांसी

आज शोधादर्श का संयुक्तांक आया। पूरा एक सिटिंग में पढ़ा भी-देखा भी। अप्रैल-जुलाई १९९२ के पीरियड का देश की जैन समाज की गतिविधियों का पूरा लेखा-जोखा इस अंक की विशेषता है।

स्व० डा० ज्योति प्रसाद जी की जन्म जयन्ती का (८० वीं) ८० वें पृष्ठ पर समाचार पढा। उनकी पुनीत स्मृति से मन पवित्र हुआ। हमारी श्रद्धाञ्जलियाँ! मैं ७१ वर्ष का हुआ। मुझसे ९ वर्ष ज्येष्ठ थे। हर प्रकार से मुझसे बड़े थे।

आपकी कविता 'क्या खोया, क्या पाया' अच्छी लगी।

—श्री सुबोध कुमार जैन
आरा

शोधादर्श (संयुक्तांक) १६-१७ में प्रकाशित डा० शशिकान्त का लेख "मानव सभ्यता के आदि प्रस्तोता—ऋषभदेव" बहुत पसन्द आया।

—श्री राम जीत जैन
लश्कर, ग्वालियर

कुछ दिनों पूर्व आपका एक शोधपत्र "मानव सभ्यता के आदि प्रस्तोता-ऋषभदेव" श्रीयुत नाहटा जी के सौजन्य से पढने को मिला। मैं आपकी विद्वत्ता के समक्ष नत मस्तक हूं। आपने अपने इस शोध पत्र में यहूदी, इस्लाम, इसाई आदि सामी परम्परा का उल्लेख किया है और अनेक स्थानों पर आपने ऐसे सेक्स सम्बन्धों का उल्लेख किया है जिन्हें आज के युग में विकृति माना जाता है। ऐसे ही एक संबंध का जिक्र करते हुए श्री राजेन्द्र सिंह बेदी ने अपने चर्चित उपन्यास 'एक चादर मैली सी' की भूमिका में लिखा है कि आदम के बेटे हाबील ने अपने भाई काबील को पत्थर से मार डाला था और उन दोनों के मध्य संघर्ष का कारण उनकी अपनी बहन थी, जिससे वह काम सुख पाना चाहते थे।

—श्री राकेश पाण्डेय
मौजपुर, दिल्ली

——

अंक १६-१७ व १८ के लेखक

श्री अजित प्रसाद जैन : सेवा-निवृत्त उप सचिव, उ० प्र० शासन
मंत्री, तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ० प्र०
पारस सदन, आयेनगर, लखनऊ-२२६००४

श्री अभय प्रकाश जैन : एन-१४, चेतकपुरी, ग्वालियर-४७४००९

डा. (कु.) अरुणा आनन्द : २३८, मैत्री अपार्टमेन्ट, प्लाट २८, ७ वीं एवेन्यू,
पटपरगंज, दिल्ली-११००९२

डा० आर. पी. अग्रवाल : मवैया, लखनऊ-२२६००४

श्रीमती आशा सहारिया : सहारिया भवन, ४९, वैशाली, दिल्ली-११००३४

डा. ऋषभ चन्द्र जैन 'फौजदार' : प्रवक्ता, प्राकृत एवं जैनागम
८९, विजया नगर कालोनी, भोलूपुर,
वाराणसी-२२१०१०

डा. (श्रीमती) कमला पन्त : जैन दर्शन की अध्येता
कृष्णापुर महल, कृष्णापुर, तल्लीताल,
नैनीताल-२६३००१

श्री कुन्दन लाल जैन : सेवा-निवृत्त प्राचार्य
श्रुत कुटीर, ६८, युधिष्ठिर गली,
विश्वास नगर, शाहदरा, दिल्ली-११००३२

डा० केशव प्रसाद गुप्त : प्रवक्ता, आदर्श ग्रामसभा इन्टर कालेज,
करवा (जि० इलाहाबाद)-२१२२०३

सुश्री गीता जैन : सम्पादक-पर्वप्रज्ञा
१२, हीरा भुवन, वी. पी. रोड, मुलुण्ड (प.),
बम्बई-४०००८०

डा. ज्योति प्रसाद जैन (स्व.) : विश्व-विश्रुत विद्वान

श्री प्रकाश चन्द्र जैन 'दास' : १२-सी० डी०, आदर्श नगर,
आलमबाग, लखनऊ-२२६००५

बा. बिहारी लाल (स्व.) : इस शती के प्रारम्भ के प्रबुद्ध जैन

श्रीमती मंजरी जैन : प्राचार्या, कान्त बाल केन्द्र
ज्योति निकुञ्ज, चारबाग, लखनऊ-२२६००४

श्री मनोज कुमार जैन 'निर्लिप्त' : पी. डब्लू. डी. क्वा. ९,
समद रोड, अलीगढ़-२०२००१

श्री रमा कान्त जैन : उप सचिव, उ० प्र० शासन
ज्योति निकुञ्ज, चारबाग, लखनऊ-२२६००४

डा० राजदेव दूबे : प्रवक्ता, इतिहास विभाग,
एन-३, जोधपुर कालोनी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी-२२१००५

डा. (श्रीमती) रानी मजूमदार : प्रवक्ता, संस्कृत विभाग,
अलीगढ़ मुस्लिम विश्व विद्यालय, अलीगढ़-२०२००२

श्री रामजीत जैन : एडवोकेट, टकसाल गली, दाना ओली,
लश्कर, ग्वालियर-४७४००१

डा० विजय कुमार : द्वारा डा. वशिष्ठ नारायण सिन्हा, दर्शन विभाग,
काशी विद्यापीठ, वाराणसी-२२१००२

डा. विनोद कुमार तिवारी : रीडर, इतिहास विभाग,
यू. आर. कालोनी, रोसड़ा (जि. समस्तीपुर)-८४८२१०

श्रीमती सुधा जिन्दल : अजिताश्रम, गणेशगंज,लखनऊ-२२६०१८

डा. (श्रीमती) सुनीता कुमारी : रिसर्च एसोशिएट, संस्कृत विभाग, का०हि०वि०
c/o पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान,
आई० टी० आई० मार्ग, वाराणसी-२२१००५

डा. शशि कान्त : सेवा-निवृत्त विशेष सचिव, उ० प्र० शासन
ज्योति निकुञ्ज, चारबाग, लखनऊ-२२६००४

——

(कवर पृष्ठ २ का शेष)

१७.	साहित्य-सत्कार	—श्री अजित प्रसाद जैन, डा० शशि कान्त	७७
१८.	आभार	—डा० शशि कान्त	८२
१९.	तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ.प्र. प्रगति प्रतिवेदन १९९१-९२	—श्री अजित प्रसाद जैन	८३
२०.	समाचार विविधा		८६
२१.	शोध-प्रगति		८७
२२.	बधाई		८७
२३.	शोक संवेदन		८९
२४.	पाठकों की दृष्टि में		९०
२५.	अंक १६-१७ व १८ के लेखक		९५

मूल्य प्रति—१० रु०

वार्षिक—२५ रु०

आजीवन—२५० रु०

निवेदन

सुधि पाठक कृपया अपनी सम्मति एवं सुझावों से अवगत करावें ताकि पत्रिका के स्तर को बनाये रखने और उन्नत करने में हमें प्रोत्साहन तथा उद्‌बोधन प्राप्त होता रहे।

—सम्पादक मंडल

आवश्यक सूचना

शोधादर्श में प्रकाशनार्थ शोधपरक अप्रकाशित लेख आमन्त्रित हैं। लेख कागज के एक ओर सुवाच्य अक्षरों में लिखित अथवा टंकित होना चाहिए और उसमें यथावश्यक संदर्भ/स्रोत सूचित किया जाना चाहिए। लेख की एक प्रति अपने पास अवश्य रख लें।

शोधादर्श में समीक्षार्थ पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं की दो प्रतियां भेजी जायें। शोधादर्श में प्रकाशित लेखों को उद्धरित किये जाने में आपत्ति नहीं है, परन्तु उसमें शोधादर्श का श्रेय स्वीकार किया जाना और पूर्ण सन्दर्भ दिया जाना अपेक्षित है।

प्रकाशनार्थ लेख और समीक्षार्थ पुस्तक प्रबन्ध सम्पादक को 'पारस सदन, आर्यनगर, लखनऊ-२२६००४' के पते पर भेजे जायें।

—प्रबन्ध सम्पादक

उपयोगी साहित्य

तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ० प्र०, लखनऊ के प्रकाशन—

1. भगवान महावीर स्मृति ग्रन्थ–सम्पादक डा० ज्योतिप्रसाद जैन Rs. 50/-
2. आदितीर्थ अयोध्या— ले० डा० ज्योतिप्रसाद जैन 6/-
3. Bhagwan Mahavira : Life, Times & Teachings by Dr. Jyoti Prasad Jain 5/-
4. Way to Health & Happiness–Vegetarianism by Dr. Jyoti Prasad Jain 4/-
5. Mysteries of Life and Eternal Bliss by Prof. Anant Prasad Jain 7.50
6. जीवन रहस्य एवं कर्म रहस्य— ले० प्रो० अनन्त प्रसाद जैन 7.50

विशेष सूचना

इतिहास-मनीषी विद्यावारिधि डा. ज्योति प्रसाद जैन की–

जैन-ज्योति : ऐतिहासिक व्यक्तिकोश, प्रथम खण्ड (अ से अ) Rs. 50/-

The Jaina Sources of the History of Ancient India

Religion and Culture of the Jains

भारतीय इतिहास : एक दृष्टि

प्रमुख जैन ऐतिहासिक पुरुष और महिलायें

तीर्थंकरों का सर्वोदय मार्ग

तथा डा. शशि कान्त की–

Political and Cultural History of Mid-North India Rs. 175/-

The Hathi-Gumpha Inscription of Kharavela and the Bhabru Edict of Asoka–A Critical Study (2nd Enlarged Ed.)

प्राप्ति स्थान :

ज्ञानदीप प्रकाशन

ज्योति निकुंज, चारबाग,

लखनऊ–२२६ ००४

मुद्रक : रत्न-ज्योति प्रेस, चारबाग, लखनऊ–४ (उ०प्र०)